

नई दिल्ली

रविवार, 30 अगस्त, 2026, मूल्य-15.00

राष्ट्रीय

वर्ष-8 अंक-45 पृष्ठ- 8

RNI: DELHIN / 2018 / 76679

Postal Reg. No. DL(C)-05/1425/2025-27

License To Post Without Pre Payment No. U(C)-164/2025-27

Magazine Post Reg. No. DL(DS)-31/MP/25-26-27



पूर्वोत्तर, हिमाचल, कश्मीर, उत्तराखंड में तेजी से पिघल रहे ग्लेशियर, कभी भी टूट पड़ सकता है नेपाल जैसा कहर

मक्का समझौता क्यों लुभा रहा बांग्लादेश को?

www.navjivanindia.com



@navjivanindia

www.nationalheraldindia.com

www.qaumiawaz.com



भादो का मौसम

7

चीनी का कड़वा संकट

यह सिर्फ चीनी को एथेनॉल बनाने में लगाने की वजह से नहीं है। भारत की चीनी अर्थव्यवस्था में साफ दिख रहे विरोधाभास

जयदीप हर्डीकर

चीनी अचानक महंगाई के मोर्चे पर अप्रत्याशित और कड़वी चुनौती बन चुकी है। खुदरा बाजार में चीनी के दाम, जो 20 जुलाई को औसतन 48 रुपये प्रति किलो थे, 20 अगस्त तक उछलकर 56 रुपये प्रति किलो पर पहुंच गए। कुछ बाजारों में तो कीमतें 60 के स्तर को भी छू गईं। प्रमुख चीनी उत्पादक राज्यों में शुमार महाराष्ट्र के थोक बाजारों में भी तेज उछाल दिखा।

केन्द्र सरकार ने व्यापारियों और थोक विक्रेताओं के लिए स्टॉक रखने की सख्त सीमा तय कर दी। इसके बाद, पिछले एक दशक में पहली बार, 31 अक्तूबर तक 10 लाख टन कच्ची चीनी के शून्य-शुल्क आयात की अनुमति दे दी गई। इस कदम का समय अहम है; लंबा त्योहारी सीजन शुरू होने वाला है। इस दौरान चीनी की घरेलू मांग चरम पर पहुंच जाती है। ऐसे वक्त चीनी की महंगाई सरकार को राजनीतिक रूप से भारी पड़ सकती है।

चीनी की कीमतों में मौजूदा उछाल असल में तेजी से बदलते चीनी क्षेत्र के गहरे नीतिगत अंतर्विरोधों की पूरी तस्वीर नहीं दिखाता। पूरे खेल में राजनीति, पर्यावरण और कृषि नीतियों से जुड़े कई पेचीदा कारक हैं। यह ऐसा उद्योग है जो किसानों के लिए गन्ने के सुनिश्चित न्यूनतम दाम, राजनीतिक रूप से रसखुदार चीनी मिलों, पानी की भारी खपत, मौसम के मिजाज, एथेनॉल नीति और किसानों तथा उपभोक्ताओं के हितों के बीच संतुलन साधने की सरकार की पुरानी दुविधा से संचालित होता है।

भारत में सालाना 2.8 से 2.9 करोड़ टन चीनी की खपत होती है। पिछले दशकों में उत्पादन अक्सर घरेलू खपत से अधिक हो जाता था, जिससे मिलों के पास भारी स्टॉक जमा हो जाता और कीमतें गिर जातीं। सरकारों ने तब इस स्थिति से निपटने के लिए निर्यात प्रोत्साहन, सस्ते कर्ज और फिर गन्ने के रस से एथेनॉल उत्पादन की नीति अपनाई। लेकिन अब जब यह सरप्लस कम हो गया है, तो चीनी उत्पादन में गिरावट का मामूली संकेत भी बाजार में घबराहट पैदा कर देता है-जैसा कि इस साल देखा जा रहा है।

संकट की तात्कालिक वजह आपूर्ति की कमी है। 2025-26 के मौजूदा सत्र में कुल चीनी उत्पादन 306 लाख टन रहने का अनुमान है, जो 343 लाख टन के शुरुआती अनुमान से बहुत कम है। यह 12 प्रतिशत की भारी गिरावट दिखाता है। आधिकारिक आकलनों के अनुसार, अगले सत्र की शुरुआत में ओपनिंग स्टॉक घटकर 33-34 लाख टन रह सकता है, जबकि पिछले साल यह 50 लाख टन था। लगातार दूसरे साल देश का चीनी उत्पादन सामान्य से कम रहा है।

उत्पादन में इस गिरावट का बड़ा कारण पिछले साल महाराष्ट्र, कर्नाटक और उत्तर प्रदेश जैसे तीन प्रमुख गन्ना उत्पादक राज्यों में अत्यधिक और बेमौसम बारिश की घटनाएं हैं। गन्ना लंबी अवधि की फसल है। गन्ने की उपज और उससे बनने वाली चीनी की मात्रा फसल के अलग-अलग चरणों में मौसम के उतार-चढ़ाव के प्रति बेहद संवेदनशील होती है। खेत में अधिक गन्ना खड़े होने का मतलब कतई नहीं कि चीनी का उत्पादन भी अधिक होगा। उदाहरण के लिए, महाराष्ट्र में 2025-26 के दौरान गन्ने का उत्पादन 1,099.7 लाख टन से बढ़कर 1,316.5 लाख टन दर्ज किया गया। लेकिन अगर रिकवरी दर- गन्ने से बनने वाली चीनी का अनुपात-गिर जाए, तो गन्ने की पैदावार बढ़ने के बावजूद चीनी उत्पादन घट सकता है।

राज्य में पिछले सत्र की तुलना में गन्ना पेराई तो अधिक हुई, लेकिन पेराई सत्र सामान्य 150-160 दिनों के मुकाबले महज 100-105 दिनों का रह गया। मार्च तक राज्य की 210 चीनी मिलों में से ज्यादा परिपक्व गन्ने के अभाव में बंद हो चुकी थीं। नवंबर और दिसंबर 2025 में बेमौसम बारिश ने खड़ी फसल को नुकसान पहुंचाया, जिससे गुणवत्ता, रिकवरी और परिपक्व गन्ने की उपलब्धता प्रभावित हुई। मिलें न तो अपनी पूरी क्षमता का उपयोग कर पाईं और न सामान्य अवधि तक चल सकीं।

दूसरा दबाव त्योहारी मांग का है, जो गणेश चतुर्थी से शुरू होकर दशहरा और दिवाली तक लगभग दो

महीने तक चरम पर रहती है। भविष्य में आपूर्ति और तंग होने की आशंका से थोक खरीदार पहले से ही माल जमा करने लगते हैं। हालांकि केन्द्र सरकार का दावा है कि घरेलू जरूरतों के लिए पर्याप्त चीनी है और उसने मुनाफाखोरों को कड़ी चेतावनी दी है। सरकार ने खुदरा और थोक व्यापारियों के साथ-साथ सितंबर से बड़े औद्योगिक उपभोक्ताओं पर भी स्टॉक सीमा लगा दी है।

गन्ना किसानों को सरकार द्वारा तय मूल्य व्यवस्था के जरिये सुरक्षा मिली हुई है। केन्द्र सरकार ‘उचित एवं लाभकारी मूल्य’ तय करती है, जबकि कुछ राज्य ऐतिहासिक रूप से इससे भी ऊंचा ‘राज्य समर्थित मूल्य’ (एसएपी) देते हैं। लेकिन इस सुनिश्चित मूल्य व्यवस्था के दूसरे आर्थिक परिणाम भी हैं। मिलों को तय कीमतों पर गन्ना खरीदना पड़ता है, बेशक खुले बाजार में चीनी के दाम उनके लिए घाटे का सौदा हो। यही वजह है कि भारत का चीनी उद्योग बार-बार अधिक उत्पादन, मिलों के वित्तीय घाटे, किसानों के भारी गन्ना बकाए और फिर सरकारी राहत पैकेजों के दुष्चक्र में फंסता रहा है।

गन्ना भारत में उगाई जाने वाली सबसे अधिक पानी सोखने वाली फसलों में है। पश्चिमी महाराष्ट्र और मराठवाड़ा जैसे क्षेत्रों में इसका विस्तार सिंचाई अवसंरचना में भारी निवेश के दम पर हुआ। किसानों के लिए गन्ने की खेती आर्थिक रूप से इसलिए आकर्षक है क्योंकि बाजार तय है और मिलों का मजबूत ढांचा है। लेकिन जलवायु परिवर्तन ने मॉडल को जटिल बना दिया है। जो फसल ज्यादा पानी पर निर्भर हो, वह अनियमित मानसून के कारण पहले तबाह होती है-और बेमौसम बारिश भी इसे नुकसान पहुंचाती है।

यहीं एथेनॉल का प्रवेश होता है जिसने चीनी अर्थव्यवस्था का गणित बदल दिया है। चीनी की बढ़ती कीमतों का सीधा संबंध एथेनॉल उत्पादन से जोड़ देना बेहद सरलीकृत नजरिया है। वास्तव में, एथेनॉल तैयार करने में इस्तेमाल होने वाले गन्ने के रस के अनुपात में कमी आई है- 2022-23 के 12 प्रतिशत से घटकर 2025-26 में यह 9 प्रतिशत रह गया। भारत में कुल एथेनॉल का 75 प्रतिशत हिस्सा अब अनाज, खासकर मक्के से आ रहा है।

इसके बावजूद, एथेनॉल कार्यक्रम और निजी क्षेत्र की भागीदारी ने चीनी उद्योग के अर्थशास्त्र को बदल दिया है। वर्षों तक भारत की समस्या ज्यादा चीनी उत्पादन की थी। एथेनॉल ने मिलों को कमाई का एक वैकल्पिक जरिया दिया। वहीं, केन्द्र सरकार के लिए एथेनॉल ऊर्जा सुरक्षा, पेट्रोल में मिश्रण के लक्ष्यों और वैश्विक जलवायु प्रतिबद्धताओं से जुड़ा है।

लेकिन जब चीनी बाजार में तंगी आती है, तो नीतियों के अंतर्विरोध खुलकर सामने आ जाते हैं। इस साल अब तक लगभग 30 लाख टन चीनी के बराबर क्षमता को एथेनॉल में बदलने का अनुमान है। सरकार अब 20 प्रतिशत पेट्रोल मिश्रण के लक्ष्य को अनाज आधारित एथेनॉल से पूरा करने और आने वाले सत्र में गन्ने के उपयोग पर अंकुश की योजना बना रही है। भले चीनी की मौजूदा किल्लत और कीमतों में उछाल की वजह एथेनॉल न हो, लेकिन इसने नीतिगत सवाल जरूर खड़ा कर दिया है: जब चीनी की कमी हो, तो एक ही कृषि उत्पाद को ‘भोजन’ और ‘ईंधन’ के बीच कैसे बाँटे? इसका एक पहलू उन डिस्टिलरीज से जुड़ा है, जिन्हें अधिशेष चीनी खपाने के लिए भारी निवेश

करके खड़ा किया गया। अब जब गन्ने का उत्पादन घटा है, तो कई संयंत्र बेकार पड़े हैं।

सरकार का मानना है कि आयात, स्टॉक सीमा और नए पेराई सत्र की जल्द शुरुआत से गंभीर संकट टल जाएगा। लेकिन अगर ये कदम फौरी तौर पर कामयाब हो भी जाएं, तब भी व्यापक ढांचागत समस्याएं जस की तस रहेंगी। भारत की चीनी अर्थव्यवस्था कई परस्पर विरोधी प्राथमिकताओं के बीच संतुलन साधने की कोशिश कर रही है: किसानों को गन्ने का बेहतर मूल्य चाहिए, चीनी मिलों को मुनाफा चाहिए, उपभोक्ताओं को सस्ती चीनी, सरकार को कम खाद्य महंगाई, ऊर्जा क्षेत्र को एथेनॉल और पर्यावरणविद अत्यधिक पानी खींचने वाली खेती को सीमित करने को कह रहे हैं।

महंगाई के तात्कालिक झटके से निपटना आसान हो सकता है, लेकिन उन बुनियादी सवालों को सुलझाना कहीं कठिन है जो इस पूरी व्यवस्था को मथ रहे हैं। क्या भारत मौसम के अनिश्चित मिजाज के बीच पानी की भारी खपत वाली फसल को लगातार लाभकारी मूल्य देने का जोखिम उठा सकता है? क्या राजनीतिक रूप से ताकतवर चीनी मिलों के तंत्र को साधे रखना हमेशा मुमकिन होगा? क्या इस फसल से ईंधन की जरूरतें पूरी करना और खुदरा बाजार में चीनी के दाम नियंत्रित रखना संभव है?

इसका समाधान केवल एक आयात आदेश जारी करने या स्टॉक की सीमा तय करने तक सीमित नहीं हो सकता। भारत को अब चीनी की संपूर्ण राजनीतिक अर्थव्यवस्था पर नए सिरे से विचार करना ही होगा। ■

फोटो: गैरी ड्रैफ्ट्स



‘यूनिवर्सल वननेस’ का विचार कोई भी अपने संगठन से नहीं जोड़ता, आरएसएस के कट्टर समर्थक भी नहीं

रॉ का संदर्भ उसके एक कथित कर्मचारी, विकास यादव, की न्यूयॉर्क में भारत विरोधी सिख चरमपंथी गुरुपतवंत सिंह पन्नी की हत्या की असफल साजिश में कथित संलिप्तता से जुड़ा था।

रिपोर्ट ने ट्रंप प्रशासन को यह भी सिफारिश की कि वह ‘अंतरराष्ट्रीय धार्मिक स्वतंत्रता अधिनियम (आईआरएफए)’ के तहत परिभाषित व्यवस्थित, निरंतर और घोर धार्मिक स्वतंत्रता उल्लंघनों में शामिल होने या उन्हें बढ़ावा देने के आधार पर भारत को ‘विशेष चिंता वाले देश’ के रूप में नामित करे। यूएससीआईआरएफ इस श्रेणी में पाकिस्तान, चीन, उत्तर कोरिया और ईरान को भी रखता है।

इस तरह, आरएसएस पिछले कुछ समय से यूएससीआईआरएफ के निशाने पर रहा है। इसका सबसे हालिया बयान ऐसे समय आया, जब भागवत अमेरिका की यात्रा पर हैं। वास्तव में, आयोग ने ‘अमेरिकी नागरिकों और अल्पसंख्यकों के खिलाफ धमकी और उत्पीड़न की लगातार कार्रवाइयों के आधार पर भारत को हथियारों की बिक्री रोकने के लिए शस्त्र निर्यात नियंत्रण अधिनियम की धारा 6 को लागू करने’ की भी सलाह दी है।

*

1925 में स्थापित आरएसएस अपने शुरुआती

दिनों में हिन्दुओं के बीच बहुत अधिक पैठ नहीं बना सका था। इसने पूर्वी अफ्रीका में बसे भारतीयों के बीच अपनी किस्मत आजमाने के लिए विदेश का रुख किया।

एडवर्ड एंडरसन ‘हिन्दू नेशनलिज्म इन द इंडियन डायस्पोरा’ में लिखते हैं: ‘(भारतीय) स्वतंत्रता से एक वर्ष पहले और एक हिन्दू चरमपंथी द्वारा महात्मा गांधी की हत्या के बाद आरएसएस पर लगे प्रतिबंध से दो वर्ष पहले, (अमृतसर के एक आर्य समाज स्कूल के शिक्षक, जगदीश) शास्त्री अपने नए पद को संभालने के लिए बॉम्बे से मोम्बासा के लिए रवाना हुए। हिन्दू महासागर के बीच एक तूफानी शाम को ‘एसएस वासना’ के डेक पर उनका अप्रत्याशित रूप से मणिकलाल रुथानी नामक एक गुजराती यात्री से परिचय हुआ। शास्त्री द्वारा अपनी पुस्तक ‘मेमॉयर्स

ऑफ अ ग्लोबल हिन्दू’ में दर्ज यह मुलाकात, भारत के बाहर पहली शाखा की स्थापना का आधार बनी।’

पूर्वी अफ्रीका में, आरएसएस ने ‘हिन्दू स्वयंसेवक संघ’ (एचएसएस) नामक एक सहयोगी संगठन के रूप में काम शुरू किया। 1970 के दशक के शुरू में, जब युगांडा, कैन्या और तंजानिया में भारतीय मूल के लोगों को बड़े पैमाने पर निष्कासन झेलना पड़ा और वे ब्रिटेन व अमेरिका चले गए, तो वे ये देश भी एचएसएस के लिए एक उपजाऊ जमीन साबित हुए। आज, ब्रिटेन में एचएसएस की सी से अधिक शाखाएं/गतिविधि केन्द्र हैं और अमेरिका में लगभग 270 शाखाएं सक्रिय हैं।

1984 में, लोकसभा की 543 सीटों में से भाजपा के पास महज दो सीटें थीं। यहां तक कि भारत में पार्टी के सबसे कट्टर समर्थक भी उसे आगे वित्तीय सहाय देने को तैयार नहीं थे। राजनीतिक वनवास के इस दौर में, भाजपा ने आरएसएस के माध्यम से एचएसएस का रुख किया, ताकि पश्चिम में पूरी तरह बस चुके और समृद्ध हो रहे पूर्व पूर्वी अफ्रीकी हिन्दुओं से संपर्क साधा जा सके। इन पूर्वी अफ्रीकी भारतीयों-जिनमें मुख्य रूप से गुजराती थे-ने उदारतापूर्वक भाजपा के खजाने को भरकर सकारात्मक प्रतिक्रिया दी।

आज तक, आरएसएस भारत में एक गैर-पंजीकृत संस्था है; यह खुद को ‘व्यक्तियों का एक समूह’ कहता है। हालांकि, एचएसएस(अमेरिकी आंतरिक राजस्व सेवा के लिए हिन्दू स्वयंसेवक संघ यूएसए, इंक.) एक गैर-लाभकारी संस्था (नॉन-प्रॉफिट) के रूप में पंजीकृत है। अमेरिकी प्रशासन के समक्ष घोषित इसका उद्देश्य ‘हिन्दू मूल्यों और सेवा के मूल्यों को बढ़ावा देने के लिए सामाजिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक गतिविधियां संचालित करना’ है।

शेष पेज 2 पर ▶

सरकारी स्कूलों को पटरी पर कैसे न लाएं

मध्य प्रदेश के ‘सांदीपनि स्कूल’ की पहल की कड़वी सच्चाई, हजारों सरकारी स्कूलों के छात्र कर रहे ‘एडजस्ट’ होने का इंतज़ार

काशिफ़ काकवी

मध्य प्रदेश 2025 से अपनी ‘सांदीपनि स्कूल’ योजना खूब प्रचारित कर रहा है। एक ऐसा दिखाऊ प्रोजेक्ट, जिसमें चंद सरकारी स्कूलों को ‘आधुनिक’ लिबास में पेश किया जाना है; और इसके लिए ‘उच्च गुणवत्ता’ वाली शिक्षा के नाम पर 13,000 करोड़ रुपये अलग रखे गए हैं।

नतीजे मिले-जुले हैं। भोपाल, इंदौर, ग्वालियर जैसे शहरों के कुछ स्कूलों में स्मार्ट क्लासरूम, कंप्यूटर और रोबोटिक्स लैब, लाइब्रेरी, मुफ्त बस सेवा, जिस जैसी सुविधाएं हैं, लेकिन ज्यादातर सरकारी स्कूल बदहाल हैं। बालाघाट, बैतूल और झाबुआ जैसे जिलों में 15 से 30 सरकारी स्कूलों को मिलाकर बनाए गए कई सांदीपनि स्कूल अधूरे हैं। इनसे हजारों छात्रों की पढ़ाई में रुकावट के अलावा कुछ हासिल नहीं हुआ।

14 अगस्त को उज्जैन के सराफा इलाके में एक स्कूल की 300 से ज्यादा छात्राओं ने कलेक्टर ऑफिस के बाहर उस योजना के विरोध में प्रदर्शन किया, जिसके तहत उनके स्कूल बंद कर उन्हें सात किलोमीटर दूर प्रस्तावित सांदीपनि स्कूल में शिफ्ट होना है। छात्राएं रो रही थीं। वे तो पहले ही रोज छह-सात किलोमीटर पैदल चलकर स्कूल जाती हैं। दूरी दोगुनी हो गई, तब तो उनकी पढ़ाई-लिखाई छूट ही जाएगी। 18 अगस्त को धार में ‘माता शबरी कन्या शिक्षा परिसर’ की छात्राएं खराब भोजन और हॉस्टल की गड़बड़ियों के कारण सड़कों पर उतरीं।

सरकार भले दावा करे कि उसने 161 नई स्कूल इमारतें पूरी कर ली हैं और 97 स्कूलों में कहीं ज्यादा आधुनिक सुविधाएं दी हैं, लेकिन 82,000 सरकारी स्कूल वाले राज्य में यह ऊंट के मुंह में जीरा ही है। खंडवा-नामच के ग्रामीण इलाकों, आदिवासी क्षेत्रों में कई प्रस्तावित स्कूल निर्माणाधीन ही हैं, क्योंकि भीड भरे क्लासरूम, बिजली की अनियमित आपूर्ति और अपर्याप्त सुविधाओं जैसी बुनियादी समस्याएं दूर नहीं हुईं।

सांदीपनि स्कूलों के पीछे आठ लाख छात्रों को सुविधा देने की योजना है, जो सरकारी स्कूलों में अभी पढ़ रहे 70 लाख छात्रों (प्राइमरी से लेकर हायर सेकेंडरी तक) का दस प्रतिशत से कुछ ही ज्यादा है। विधानसभा में स्कूलों के लिए लगातार आवाज उठाने वाले कांग्रेस नेता प्रताप ग्रेवाल कहते हैं कि ज्यादातर छात्रों को इसका लाभ नहीं मिलेगा।

राज्य के 20 से ज्यादा जिलों में छात्रों ने अगस्त में विरोध प्रदर्शन किए, जो किसी हद तक जंतर-मंतर आंदोलन से प्रेरित थे। उनकी मांगें अन्य राज्यों जैसी भले हों, मध्य प्रदेश में विवाद का नया मुद्दा मौजूदा स्कूल बंद कर उन्हें ‘सांदीपनि स्कूलों’ में मिलाना है।

यही कारण है कि कटनी, अशोकनगर, पांडुर्नी, विदिशा, भोपाल और अन्य जगहों पर विरोध-प्रदर्शन हुए। अभिभावक-शिक्षक दोनों कहते हैं कि ग्रामीण स्कूल बंद होने से बच्चों, खासकर लड़कियों को प्राय: बिना किसी भरोसेमंद पब्लिक ट्रांसपोर्ट के, जंगल या असुरक्षित रास्तों से 15 किलोमीटर तक का सफर करना पड़ता है। जबलपुर का एक ऐतिहासिक स्कूल ‘सांदीपनि’ का दर्जा देकर अपग्रेड किया गया, लेकिन फिर

उसे अचानक बंद कर 12 किलोमीटर दूर अन्यत्र शिफ्ट कर दिया गया। मध्य प्रदेश हाईकोर्ट ने इस मामले में स्थानीय प्रशासन से जवाब मांगा है।

विधानसभा चुनावों से एक साल पहले यानी 2022 में स्कूलों पर अचानक सबका ध्यान गया, जब सरकारी स्कूलों की बदहाली की खबरों से परेशान तत्कालीन मुख्यमंत्री शिवराज सिंह चौहान ने आनन-फानन ‘सीएम राइज’ कार्यक्रम शुरू किया। हर जिले (कुल 55 जिले) में एक सीएम राइज स्कूल खोलने का वादा हुआ। कई मौजूदा स्कूल बतौर ‘उत्कृष्ट’ वर्गीकृत हो गए। मॉडल स्कूल नाम बदलकर सीएम राइज स्कूल हो गए, शिक्षकों का तबादला कर दिया गया, जिससे परीक्षाओं से ठीक पहले छात्रों की पढ़ाई बाधित हुई।

दिसंबर 2023 में जब मोहन यादव मुख्यमंत्री बने, स्कूली शिक्षा उनकी प्रार्थमिकताओं में नहीं

दिखी। लेकिन अप्रैल 2025 में जब यादव ने

योजना का नाम बदलकर इसे नए रूप में पेश

किया, कहने-सुनने को ही सही, हालात बदले

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

।

हिमालय की एक और चेतावनी

पंकज घुर्वेदी

नेपाल की ताजा आपदा ने स्पष्ट कर दिया है कि हिमालय अब और अधिक मानवीय दबाव को सहन करने की स्थिति में नहीं है। कश्मीर से लेकर हिमाचल और उत्तराखंड तक, ग्लेशियर तेजी से पिघल रहे हैं और उनके ऊपर अनगिनत खतरनाक झीलें आकार ले रही हैं। यदि अब भी उपग्रह आधारित रियल-टाइम निगरानी तंत्र, सख्त जोनिंग कानून और पारिस्थितिकी आधारित विकास नीतियों को नहीं अपनाया, तो प्रकृति का यह कहर किसी भी समय बड़े शहरों और बस्तियों को अपनी चपेट में ले सकता है।

अंतरराष्ट्रीय एकीकृत पर्वतीय विकास केन्द्र (आईसीआईएमओडी) के शोध के अनुसार, इस क्षेत्र में हजारों हिमनद झीलें बन चुकी हैं जिनमें से सैकड़ों को अतिसंवेदनशील और गंभीर खतरे के रूप में चिन्हित किया गया है। संभावित आपदाओं से निपटने के लिए आधुनिक वैज्ञानिक तकनीकों – जैसे नियंत्रित निष्कासन, साइफनिंग और उप-हिमनद सुरंगों (सब ग्लेशियर टनल्स) के जरिये झीलों के जल स्तर को सुरक्षित सीमा तक घटाने के साथ अन्तर्देशीय सीमा-पार पारिस्थितिकीय प्रबंधन को अनिवार्य माना गया है। दरअसल, प्राकृतिक आपदाएं राजनीतिक सीमाओं को नहीं मानतीं और इनसे जुझने केलिए पड़ोसी देशों के बीच बेसिन-स्तर पर वास्तविक समय में डेटा साझाकरण और संयुक्त निगरानी तंत्र का होना अत्यंत आवश्यक है।

पूर्वोत्तर: तिब्बत के पठार से निकलकर भारत के पूर्वोत्तर राज्यों को जीवन देने वाली यारलुंग त्सांगपो, यानी ब्रह्मपुत्र नदी पर चीन की जलविद्युत महत्वाकांक्षाएं धरातल पर उतर चुकी हैं। तिब्बत के ग्याल्सा काउंटी में 510 मेगावाट क्षमता और 116 मीटर ऊंचो जांग्मु जलविद्युत परियोजना के औपचारिक रूप से पूर्ण होने की घोषणा ने भारत, खास तौर से अरुणाचल और असम में, गंभीर चिंता को जन्म दिया है। हालाँकि चीन ने इसे सामान्य जलविद्युत परियोजना बताया है, लेकिन भू-राजनीतिक विशेषज्ञों और पर्यावरणविदों के वैश्विक शोध तस्दीक करते हैं कि यह परियोजना भारत की सुरक्षा, जल संप्रभुता और पर्यावरण के लिए शांत खतरे की दस्तक है। ब्रह्मपुत्र नदी पूर्वोत्तर भारत की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक रीढ़ है, इसलिए ऊपरी प्रवाह में होने वाली किसी भी बड़ी हलचल का सीधा और दूरगामी असर पड़ना तय है।

दरअसल, तिब्बत का यह पूरा क्षेत्र अत्यधिक सक्रिय भूकंपीय क्षेत्र में आता है। यहां 8 से अधिक तीव्रता वाले विनाशकारी भूकंप आने का खतरा बना रहता है। इस क्षेत्र में विशालकाय कंक्रीट के ढांचे खड़े करना प्रकृति से सीधा खिलवाड़ है। चूँकि जांग्मु बांध तैयार हो चुका है और संचालित है, इसलिए किसी बड़े भूकंप या बड़े पैमाने पर होने वाले भूस्खलन के कारण इस ढांचे को कोई नुकसान पहुंचता है, तो यह निचले इलाकों के लिए तबाही का सबब बनेगा। इसके अलावा, किसी सामरिक तनाव या युद्ध की स्थिति में यदि चीन राजनीतिक दुर्भावना के तहत अचानक इस बांध से भारी मात्रा में पानी छोड़ता है, तो यह अरुणाचल के लिए मानव-निर्मित जल-बम की तरह काम करेगा। इसके कारण विनाशकारी और अप्रत्याशित अचानक बाढ़ से चंद घंटों में

फोटो: गैरी डुकेला



नेपाल के नुवाकोट जिले के भिशूली बाजार में अचानक आई बाढ़ से पल भर में सब तबाह

पूरे पूर्वोत्तर को जान-माल का ऐसा नुकसान होगा जिसकी कल्पना भी कंपा देती है। इसकी बानगी ही नेपाल और तिब्बत की सीमा पर अभी देखने को मिल रही है। विशेषज्ञ मान रहे हैं कि यह तबाही ग्लेशियर टूटने, तापमान में वृद्धि और पर्वतीय अस्थिरता का परिणाम है। यह भारत के लिए गंभीर चेतावनी है।

जम्मू-कश्मीर: कश्मीर यूनिवर्सिटी के पृथ्वी विज्ञान विभाग और विभिन्न शोध संस्थानों के आंकड़े बताते हैं कि इस क्षेत्र के ग्लेशियर, विशेषकर कोल्हाई ग्लेशियर, अभूतपूर्व दर से सिकुड़ रहे हैं। कोल्हाई ग्लेशियर कुछ दशकों में अपने कुल क्षेत्रफल का लगभग 22 प्रतिशत से अधिक हिस्सा खो चुका है। तापमान में लगातार वृद्धि के कारण कश्मीर घाटी में अनियंत्रित ढंग से 'ग्लेशियल झीलों' बन रही हैं। इनके उफनने या फटने का खतरा इसलिए भी बढ़ गया है क्योंकि पंजशीर और पीर पंजाल श्रृंखलाओं में मानवीय हस्तक्षेप, अंधाधुंध निर्माण और जंगलों की कटाई ने पारिस्थितिकी तंत्र को अस्तंतुलित कर दिया है। समय रहते इन झीलों के जलस्तर की निगरानी नहीं की गई, तो झेलम बेसिन के आसपास बसे घनी आबादी वाले इलाके जलमग्न हो सकते हैं।

केवल हिमानी झीलों ही नहीं, बल्कि कश्मीर की ऊंचाई पर स्थित वे अल्पाइन झीलें भी खतरे के दायरे में हैं जो सदियों से घाटी की जलसुरक्षा की रीढ़ रही हैं। गंगाबल, विशनसर, कृष्णसर, गादसर, तारसर, मारसर, कौसरनाग, शेपनाग, सतसर, नुंदकोल और अल्पाथर जैसी झीलें वृक्ष रेखा के

अगर इकोसिस्टम हमारे प्रस्तावित

‘विकास’ को नहीं झेल सकता, तो यह

बड़ी तबाही की ओर ले जाने वाली स्थिति

है। इससे बचने के लिए ठोस प्रबंधन

योजना की निरंतर निगरानी, सख्त

भवन संहिता और सामुदायिक भागीदारी

में बदलना ही एकमात्र रास्ता

ऊपर बसी हैं और बर्फ के पिघले पानी तथा वर्षा को संचित कर उसे धीरे-धीरे नीचे झेलम जैसी नदियों, आद्रभूमियों और भूजल तक पहुंचाती हैं। परंतु ग्लेशियर पीछे खिसक रहे हैं, बर्फ की चादर पतली हो रही है, और वर्षा-हिमपात का पारंपरिक समय चक्र बिगड़ चुका है। दुर्भाग्य से, अधिकांश झीलों के लिए अब तक कोई समर्पित प्रबंधन योजना ही नहीं बनाई गई है, और जलरूपगत्ता, जैवविविधता एवं जलवायु संकेतकों की निगरानी बेहद छिटपुट ढंग से हो रही है।

कश्मीर पर भूकंपीय खतरा भी लगातार मंडरा रहा है। भारतीय मानक ब्यूरो (बीआईएस) द्वारा जारी 2025 के राष्ट्रीय भूकंपीय जोनिंग मानचित्र में जम्मू-कश्मीर समेत समूचे हिमालयी चाप को भारत की सर्वाधिक खतरनाक श्रेणी 'जोन VI' में रखा गया है। यह वर्गीकरण भारत-यूरोशिया प्लेटों की निरंतर टक्कर से बनी उस भूगर्भीय वास्तविकता को दर्शाता है जिसके कारण मुख्य हिमालयी श्रस्ट पर बड़े भूकंप आना लगभग तय माना जाता है। इसका उदाहरण 2005 का मुजफ्फराबाद भूकंप (मैग्नीट्यूड 7.6) है जिसमें 80,000 से अधिक लोगों की जान गई थी। कश्मीर घाटी में तेजी से हो रहे अनियमित शहरीकरण, ढलानों पर बढ़ते निर्माण और स्कूलों-अस्पतालों जैसे महत्वपूर्ण भवनों की सीमित भूकंपीय जांच ने इस खतरे को और गंभीर बना दिया है।

उत्तराखंड: केदारनाथ आपदा और चमोली के जोशीमठ तथा ऋषिगंगा घाटी की त्रासदियों से भी हमने सबक नहीं सीखा है। वाडिया हिमालय भूविज्ञान संस्थान और अन्य वैज्ञानिक

“शिक्षा में बदलाव सामूहिक रूप से ही लाया जा सकता है”

हाल ही में ‘जेन-जी’ और ‘जेन अल्फा’ के विरोध-प्रदर्शनों ने भारत की ध्वस्त शिक्षा व्यवस्था की ओर सबका ध्यान खींचा है। हालात समझने के लिए महज दो ही आंकड़े काफी हैं। भारत में शिक्षा तेजी से बढ़ता हुआ उद्योग है (अनुमानित बाजार का आकार: 11-14 लाख करोड़ रुपये या 115-152 बिलियन डॉलर) फिर भी, जैसा कि शिक्षाविद और दिल्ली विश्वविद्यालय में फैकल्टी ऑफ एजुकेशन की पूर्व डीन प्रोफेसर **अनीता रामपाल** ने **नंदलाल शर्मा** को बताया: भारत में महज 22 प्रतिशत बच्चे ही 12वीं कक्षा तक की पढ़ाई पूरी कर पाते हैं। बाजार का यह आकार बताता है कि शिक्षा एक बहुत बड़ा व्यवसाय है और यहां खासी कमाई हो रही है, इसके बावजूद भारत के सबसे ज्यादा आबादी वाले राज्य उत्तर प्रदेश में 7,000 स्कूल ऐसे हैं जहां सिर्फ एक ही अध्यापक है। सरकारी स्कूलों में बुनियादी सुविधाओं को लेकर चल रहे विरोध-प्रदर्शनों ने लोगों का ध्यान फिर से इस तरफ खींचा है, लेकिन क्या हम सही सवाल पूछ रहे हैं?

ऐसा लगता है कि ‘जेन अल्फा’ को किसी चीज का भय नहीं है। आप क्या सोचती हैं?

यह बहुत अच्छी बात है। वर्षों से छात्रों को यही अहसास कराया जाता रहा है कि वे फेल होते हैं, तो कमी उन्हीं में है। हमने शायद ही कभी पूछा कि इसमें सिस्टम की कैसी भूमिका रही है।

जब लड़कियां पत्रकारों से पूछती हैं, “बोर्ड परीक्षा में चार महीने ही बचे हैं। अगर कोई शिक्षक नहीं है, तो हमें क्या करना चाहिए?” तो यह बिल्कुल वाजिब सवाल है। दिल्ली में, 10वीं कक्षा के जिन छात्रों के पास गणित का शिक्षक नहीं था और वे फेल हो गए, उन्होंने यही तो कहा कि आप हमें एक शिक्षक दे दीजिए और तीन महीने बाद फिर परीक्षा लेकर देखिए, अभी हमें फेल मत कीजिए, क्योंकि 10वीं में फेल होने का मतलब स्कूल से बाहर निकाला जाना हो सकता है।

सरकारी आंकड़े गवाह हैं कि औसतन, सिर्फ 22 प्रतिशत बच्चे ही 12वीं की पढ़ाई पूरी कर पाते हैं।

क्या केन्द्र और राज्य सरकारें अपनी जिम्मेदारियां निभाने में नाकाम रही हैं?

बिल्कुल। हमारे संविधान में शिक्षा को ‘समवर्ती सूची’ में इसलिए रखा गया है, क्योंकि राज्यों की भी इसमें जिम्मेदारी है। लेकिन अब इस दायरे को लगातार सीमित किया जा रहा है। उत्तर भारत में विरोध-प्रदर्शन इसलिए भी ज्यादा हो रहे हैं क्योंकि दक्षिण के कुछ राज्यों ने दिखाया है कि चीजें अलग तरह से की जा सकती हैं। उदाहरण के लिए, तमिलनाडु ने बार-बार केन्द्रीकरण पर सवाल उठाए हैं, जैसा कि ‘राष्ट्रीय शिक्षा नीति’ और नीट एवं सीयूईटी जैसे कॉमन एडमिशन टेस्ट (‘नेशनल टेस्टिंग एजेंसी’ यानी एनटीए द्वारा आयोजित) में देखा गया है। राज्य का तर्क है कि छठी कक्षा

से ही व्यावसायिक शिक्षा (वोकेशनल एजुकेशन) शुरू करने से असमानता बढ़ सकती है, क्योंकि ऐसे पाठ्यक्रम ‘कम सम्मानजनक’ माने जाते हैं।

यूडीआईएस+ का डेय बताता है कि उत्तर प्रदेश में 7,000 से ज्यादा ऐसे स्कूल हैं जहां सिर्फ एक ही टीचर है। पूरे देश में एक लाख से ज्यादा स्कूल ऐसे ही हैं। हम अच्छी गुणवत्ता वाली शिक्षा की बात भी कैसे कर सकते हैं, जब लाखों बच्चों को असल में सिर्फ एक ही शिक्षक पढ़ा रहा हो?

शिक्षा का अधिकार कानून 2010 में लागू हुआ था। उस वादे का क्या हुआ?

शिक्षा का अधिकार बहुत लंबे संघर्ष का हासिल था। इसमें आस-पास ही स्कूल देने की बात तो थी ही, काबिल शिक्षक और सही मूल्यांकन का वादा भी था। लेकिन इनमें से ज्यादातर चीजें अब गड्ढा-मड्ड हो चुकी हैं। सरकारों का ध्यान लगातार लागत कम करने पर ही रहा है। गांव और पंचायत स्तर पर शिक्षकों को बहुत कम वेतन मिलता है। ‘शिक्षा मित्र’ जैसी कामचलाऊ व्यवस्थाएं आम हैं। सरकारी स्कूलों के बीच ही भारी असमानता है। दिल्ली में केन्द्रीय विद्यालय, सर्वोदय विद्यालय, प्रतिभा विकास विद्यालय वगैरह हैं... लेकिन सबसे गरीब बच्चे को अक्सर सबसे कमजोर स्कूल मिलता है। हर बच्चे को एक जैसी गुणवत्ता वाली शिक्षा क्यों नहीं मिलनी चाहिए?

समस्या हमारे पढ़ाने के तरीके में भी है। कितनी ही कक्षाओं में शिक्षक ब्लैकबोर्ड पर लिखते हैं और बच्चे उसे कॉपी करते हैं। यह शिक्षा नहीं है। बच्चों को अपने हाथ से काम करने, छानबीन और प्रयोग करने की जरूरत है। ज्ञान तब बनता है जब हम साथ मिलकर बात करते और सोचते हैं; यह कोई ऐसी जानकारी तो है नहीं, जो अंदर गई और

फिर बाहर आ गई। पाठ्यपुस्तकें रुचिकर नहीं हैं, वे जिज्ञासा नहीं जगातीं। हम ऐसी कितनेबं क्यों नहीं लिख सकते जिन्हें देखकर ही बच्चों में पढ़ने की इच्छा जागृत हो?

हमने शिक्षा को सही चौखाने (बॉक्स) पर टिक करने तक सीमित कर दिया है। लेकिन डॉक्टर, शिक्षक, पत्रकार या फिल्म निर्माता बनने के लिए आपको सोचने का अपना तरीका विकसित करना होगा। आप इसे किसी ‘उत्तर कुंजी’ से हासिल नहीं कर सकते।

अब क्या होना चाहिए?

ज्यादा उम्मीद नहीं है। कमेंटियां बनेंगी, निगरानी बढ़ेगी और लोग गलत तरीकों का इस्तेमाल रोकने की बात करेंगे।

हमें पूछना होगा: हम टेस्ट किस चीज का ले रहे हैं? हम कैसी जानकारी को अहमियत देते हैं? अच्छी बात है कि छात्र शिक्षकों की मांग कर रहे हैं, लेकिन हमें यह भी तो पूछना चाहिए कि वे शिक्षक तैयार कितना हैं। क्या वे बच्चों को रटना सिखा रहे हैं, क्योंकि परीक्षाओं को तो इसी तरह से आकार दिया गया है?

जरूरत ‘सीखने के नतीजों’ के बारे में समझदारी बदलने की भी है। अगर आपका परफॉर्मेंस यह दर्शाता है कि आप कमजोर हैं, दूर-दराज के इलाके से हैं या किसी खास सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि से हैं, तो इसका मतलब सिस्टम सबके लिए समान रूप से सीखने का माहौल बनाने में फेल रहा है।

शिक्षा के बढ़ते केन्द्रीकरण के बारे में क्या सोचती हैं?

ऐसा नहीं होना चाहिए। शिक्षा जमीनी स्तर से, स्थानीय लोगों के पास मौजूद ज्ञान से और बच्चे को देखते, समझते और जानते हैं, उससे आगे बढ़नी चाहिए। मणिपुर हो, दिल्ली हो या केरला, शिक्षा स्थानीय माहौल से निकलनी चाहिए। पाठ्यक्रम ऊपर से थोपा नहीं जा सकता।

क्या ‘जेन जी’ या ‘जेन अल्फा’ का विचार बच्चों की व्यक्तिगत परिस्थितियों में मौजूद बड़े अंतर को छिपा देता है?

बिल्कुल। स्कूली पढ़ाई पूरी करने वाले महज 20 फीसदी छात्र ही उच्च शिक्षा की राह पर बढ़ते हैं, और इनमें से भी लगभग 80-85 फीसदी छात्र ऐसे होते हैं जो अपने परिवार में पढ़ने-लिखने वाली पहली पीढ़ी के लोग हैं, जिनके माता-पिता ने कभी यूनिवर्सिटी या कॉलेज नहीं देखा। हम उनकी परिस्थितियों को नजरअंदाज तो नहीं कर सकते।

कुछ जगहों पर तो बच्चों के पास स्कूल की इमारत तक नहीं है। उत्तर प्रदेश की उस छोटी बच्ची का वह दिल दहला



फोटो: नंदलाल शर्मा

देने वाला वीडियो याद कीजिए, जिसमें वह कह रही है, “हमें देखिए, हम बारिश और गर्मी में पढ़ाई कर रहे हैं, कम से कम हमें एक इमारत तो दे दीजिए।”

हम कहते हैं, ‘ऑनलाइन परीक्षाएं लें।’ लेकिन कितने परिवारों के पास कंप्यूटर हैं? ऑनलाइन परीक्षाओं से सबसे ज्यादा जरूरतमंद और हाशिये के लोग छूट सकते हैं। अगर हम चाहते हैं कि बच्चे उच्च शिक्षा तक जाएं, तो हमें ऐसा सिस्टम बनाना होगा जो उन्हें वहां तक पहुंचने में मदद करे।

क्या आप स्कूलों में हो रहे मौजूदा विरोध-प्रदर्शनों को नागरिक चेतना के तौर पर देखती हैं?

हां। जब आप सिर्फ अपने लिए नहीं, बल्कि सबके लिए कुछ मांगते हैं, तो आप सहानुभूति और सामूहिक सोच का परिचय देते हैं। यहीं से नागरिकता की शुरुआत होती है।

मौजूदा विरोध-प्रदर्शनों की एक खासियत यह है कि इनमें जाति और धर्म अप्रासंगिक हो गए हैं। हर कोई शिक्षक मांग रहा है। राजस्थान में, जब मुस्लिम शिक्षकों को गलत तरीके से निलंबित किया गया, तो छात्रों, खासकर लड़कियों ने विरोध कर उनकी बहाली की मांग की। शिक्षा अपने आप में एक धर्मनिरपेक्ष मुद्दा है। यह सबकी जरूरत है और इसमें बदलाव सिर्फ सामूहिक प्रयासों से ही लाया जा सकता है।

सबसे जरूरी प्राथमिकताएं क्या हैं?

शिक्षा का अधिकार एक ढांचा देता है: स्कूल बच्चे के घर के आस-पास होना चाहिए, साथ ही योग्य और प्रशिक्षित शिक्षक, सीखने की सामग्री, लाइब्रेरी और सीखने के लिए सही माहौल भी होना चाहिए। महज एक इमारत काफी नहीं है। शिक्षकों को भी ओरिएंटेशन की जरूरत है, ताकि वे ऐसा

संगठनों के अनुसार, उत्तराखंड के उच्च हिमालयी क्षेत्रों में 1,000 से अधिक छोटी-बड़ी ग्लेशियल झीलें बन चुकी हैं। इनमें से कई झीलें ‘फ्लैश फ्लड’, यानी अचानक बाढ़ का कारण बनने के लिए पूरी तरह तैयार हैं। दून विश्वविद्यालय और पर्यावरणविदों के अध्ययन बताते हैं कि उत्तराखंड में पिछले तीन दशकों में औसत तापमान में 1.5 से 2 डिग्री सेल्सियस तक की वृद्धि दर्ज की गई है, जो वैश्विक औसत से काफी अधिक है। इसकी वजह से गंगोत्री और गोमुख जैसे प्रमुख ग्लेशियर हर साल 20 से 30 मीटर पीछे खिसक रहे हैं। इनके नीचे मलबे और बर्फ का अस्थिर मिश्रण जमा होता जा रहा है, और जब कभी जरा-सा भी भूकंपीय कंपन या बादल फटने की घटना होगी, तो यह मलबा नीचे की ओर बहता हुआ नदियों के किनारे बनी पनबिजली परियोजनाओं और बस्तियों को नेस्तनाबूद कर देगा।

हिमाचल प्रदेश: सतलुज, ब्यास और चेनाब नदी घाटियों में लगातार बढ़ रहे तापमान ने बर्फ पिघलने की रफ्तार को कई गुना बढ़ा दिया है। राज्य जलवायु परिवर्तन केन्द्र के आंकड़े गवाही देते हैं कि राज्य में पिछले कुछ वर्षों में अत्यधिक वर्षा, बादल फटने और अचानक बाढ़ आने की घटनाओं में 40 प्रतिशत से अधिक की वृद्धि हुई है। लाहौल-स्पोति और किन्नौर में तेजी से पिघलते ग्लेशियरों के कारण नई झीलों का निर्माण हुआ है, जिनके प्राकृतिक बांध बेहद कमजोर हैं। हाल के वर्षों में हिमाचल में आई आकस्मिक बाढ़ों ने साबित कर दिया है कि राज्य में अंधाधुंध तरीके से बनाई जा रही जलविद्युत परियोजनाएं, चौड़ी होती सड़कें और पर्वतों की अनियोजित कटाई प्राकृतिक आपदाओं के जोखिम को और अधिक आमंत्रित कर रही है। नदियों के मुहानों और फ्लडप्लेन क्षेत्रों में हो रहे निर्माण कार्यों ने इस खतरे को और अधिक घातक बना दिया है।

हिमाचल प्रदेश विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं पर्यावरण परिषद के ताजा अध्ययन में अकेले सतलुज बेसिन में ही 2,292 ग्लेशियर झीलों सामने आई हैं। 1,335 झीलों चीन के कब्जे वाले तिब्बत में हैं। 470 झीलें स्पीति और 487 किन्नौर के खाब से नीचे हिमाचल के सतलुज क्षेत्र में हैं। इनमें से 49 दस हेक्टेयर से अधिक क्षेत्र में फैली हैं। तिब्बत में किसी झील के टूटने पर उसका पानी सतलुज के रास्ते हिमाचल में प्रवेश करेगा और असर पंजाब के मैदानी तक होगा। चिनाब और रावी बेसिन के ग्लेशियरों में भी 373 झीलें हैं।

यह संकट तीन परतों में एक साथ सामने आ रहा है: पिघलते ग्लेशियरों से बनतीं अस्थिर हिमानी झीलें; डल जैसी झीलों में सीवेज और अनियंत्रित प्रदूषण से हो रहा क्षरण; और अब ‘जोन VI’ की भूकंपीय भेद्यता। इन्हें अलग-अलग समस्याओं के रूप में देखना संभव नहीं रहा, क्योंकि एक साधारण बादल फटने या मध्यम तीव्रता के भूकंप की घटना भी इन्हें एक साथ जोड़कर बड़ी तबाही में बदल सकती है। इसलिए जलवायु, जलविज्ञान, जैवविविधता और जल गुणवत्ता की दीर्घकालिक निगरानी को एक साथ जोड़कर हर प्रमुख ग्लेशियर झील के लिए ठोस प्रबंधन योजना तैयार करना जरूरी है। इसे ठोस नीति, निरंतर निगरानी, सख्त भवन संहिता और सामुदायिक भागीदारी में बदलना ही एकमात्र रास्ता है जो हिमालय के इस क्रंदन को समय रहते सुन सके। ■

मक्का समझौते की ओर क्यों झुक रहा बांग्लादेश?

मौजूदा रूप में यह गठबंधन सभी पक्षों की ओर से सैन्य प्रतिबद्धता से ज्यादा राजनीतिक संकेत है। साझेदारों के सामने एक जैसे खतरे नहीं

फैसल महमूद

बांग्लादेश ने फिलवक्त ‘मक्का संयुक्त रक्षा समझौते’ में शामिल होने पर फैसला नहीं किया है, लेकिन वह इसमें अपनी दिलचस्पी का खुलकर प्रचार जरूर कर रहा है।

बांग्लादेश के विदेश राज्य मंत्री हुमायूं कबीर ने कहा, ‘अगर मध्य पूर्व के इस्लामी देशों में कोई सुरक्षा समझौता बनता है, तो हमारे लिए उसमें भागीदारी पर विचार करना असामान्य नहीं।’ कबीर ने यह भी कहा कि समझौते के संस्थापक देश बांग्लादेश की भागीदारी पर बेहद उत्सुक हैं। इसके बाद विदेश मंत्रालय के एक सूत्र ने पुष्टि की कि सऊदी अरब ने प्रधानमंत्री तारिक रहमान को औपचारिक रूप से रियाद आमंत्रित किया है।

सऊदी अरब, तुर्की और पाकिस्तान द्वारा 7 अगस्त को मक्का में हस्ताक्षरित यह समझौता किसी एक सदस्य देश पर हुए सशस्त्र हमले को सभी सदस्यों पर हमला मानता है। हालांकि, कोई भी व्यवस्था जिसमें सऊदी अरब का वित्तीय रसूख, तुर्की की सैन्य-औद्योगिक क्षमता और पाकिस्तान की सशस्त्र एवं परमाणु ताकत साथ आती हो, मुस्लिम एकजुटता के दिखावे से कहीं बड़ा रणनीतिक कदम है।

ढाका का यह खुला उत्साह दरअसल तीन परस्पर जुड़े समीकरणों की वजह से है: घरेलू राजनीति, क्षेत्रीय सुरक्षा माहौल में घटता भरोसा और मुस्लिम दुनिया से ज्यादा आर्थिक एवं रणनीतिक लाभ हासिल करने की चाहत। बांग्लादेश दुनिया के सबसे बड़े मुस्लिम देशों में है। मक्का में बने और तीन प्रभावशाली मुस्लिम देशों की अगुवाई वाले गठबंधन से जुड़ना राजनीतिक रूप से फायदे का सौदा है, खासकर ऐसी सरकार के लिए जिसका जनाधार पिछली सरकारों की तुलना में पाकिस्तान और खाड़ी देशों से करीबी रिश्तों पर अधिक सकारात्मक है।

विदेशी नेता द्वारा प्रधानमंत्री की भागीदारी चाहने पर कबीर का जोर देना बहुत कुछ बयां करता है। इस सदस्यता को केवल एक सुरक्षा उपकरण के रूप में नहीं, बल्कि अंतरराष्ट्रीय मान्यता के रूप में देखा जा रहा है: बांग्लादेश अब विदेशी मदद पाने वाले या सस्ते मजदूर भेजने वाले देश के रूप में दरवाजे पर खड़ा रहने के बजाय एक मजबूत मुस्लिम ताकत के रूप में वैश्विक पटल पर कदम रखेगा।

इसे केवल विचारधारा प्रेरित नीति मानना सही नहीं। बांग्लादेश बैंक के अनुसार, वित्त वर्ष 2025-26 में सऊदी अरब बांग्लादेश के

लिए रেমिटेंस का सबसे बड़ा स्रोत था-जहां से करीब 5.85 अरब डॉलर की राशि आई। लाखों बांग्लादेशी खाड़ी क्षेत्र में काम करते हैं। ढाका की ऊर्जा सुरक्षा, विदेशी रोजगार और निवेश योजनाओं के लिए रियाद अहम है। तुर्की रक्षा उपकरणों और राजनीतिक समर्थन का तेजी से उभरता और अहम स्रोत है। वहीं पाकिस्तान सैन्य संपर्क की पेशकश करता है, और मौजूदा सरकार के तहत ढाका उसके साथ रिश्तों को सामान्य बनाने के लिए पूरी तरह प्रतिबद्ध है।

दूसरा बड़ा समीकरण सीधे भारत से जुड़ा है। भारत द्वारा पूर्व प्रधानमंत्री शेख हसीना को शरण देने, उनके प्रत्यर्पण पर चुप्पी साधने और अवैध बांग्लादेशियों को कथित तौर पर जबरन सीमा पार धकेलने के कारण ढाका और नई दिल्ली के रिस्ते तनावपूर्ण हैं। भारत की धरती से हसीना के राजनीतिक बयान ने प्रधानमंत्री रहमान की प्रस्तावित भारत यात्रा को खटाई में डाल दिया है।

पाकिस्तान वाले गठबंधन से जुड़ना नई दिल्ली को कड़ा संदेश देगा कि बांग्लादेश के पास अन्य रणनीतिक विकल्प भी हैं। भारत उसके ज्यादातर हिस्से को तीन तरफ से घेरता है, उसकी नदी प्रणालियों को नियंत्रित करता है और उसके कई सबसे सस्ते परिवहन मार्गों पर काबिज है। ढाका इस भौगोलिक असेंतुलन को मिटा नहीं सकता। लेकिन वह दुनिया के अन्य हिस्सों में नए रिस्ते जरूर बना सकता है। मक्का समझौता उसे वास्तविक सैन्य सुरक्षा के मुकाबले एक बड़ा कूटनीतिक और प्रतीकात्मक दबाव बनाने का जरिया देता है। न तो सऊदी अरब और न ही तुर्की किसी बांग्लादेशी विवाद को लेकर भारत से सीधे टकराने का जोखिम उठाएंगे। पाकिस्तान का इसमें शामिल होना अधिक संवेदनशील है, इसलिए वह सीधे तौर पर ज्यादा काम नहीं आ सकता। फिर भी, बाहरी देशों के मजबूत समर्थन का यह अहसास ढाका को अंतरराष्ट्रीय कूटनीति में खुलकर खेलने और अपनी शक्तों पर बात करने की ताकत देता है।

तुर्की ने अत्याधुनिक ड्रोन, मिसाइल, नौसैनिक युद्धपोत और इलेक्ट्रॉनिक युद्धक उद्योगों का एक प्रतिस्पर्धी ढांचा तैयार किया है। पाकिस्तान सैन्य प्रशिक्षण, वास्तविक युद्ध का अनुभव और चीन के साथ मिलकर विकसित किए गए हथियार प्रणालियों तक पहुंच देता है। वहीं, सऊदी अरब पूंजी और क्रय शक्ति देता है। बांग्लादेश इस साझेदारी का उपयोग प्रौद्योगिकी हस्तांतरण, संयुक्त हथियार उत्पादन, खुफिया सहयोग, साइबर क्षमताओं और बंगाल की खाड़ी

में समुद्री निगरानी मजबूत करने में कर सकता है। यह इसलिए भी मायने रखता है कि ढाका किसी एक देश पर निर्भर रहे बिना अपनी सेना के आधुनिकीकरण की कोशिश कर रहा है। वह पहले से ही चीन से लड़ाकू विमान जे-10सीई और अटैक हेलीकॉप्टरों लेने का मन बना रहा है।

लेकिन हथियारों की आपूर्ति में विविधता के लिए किसी पारस्परिक रक्षा संधि में बंधना जरूरी नहीं और यही वह बारीक अंतर है जहां ढाका की रणनीति एक खतरनाक मोड़ ले लेती है। इस समझौते के सार्वजनिक प्रावधान उन बुनियादी सवालों को अनुत्तरित छोड़ देते हैं जो इसकी वास्तविक उपयोगिता को तय करेंगे। इस गठबंधन के पास नाटो जैसा कोई एकीकृत सैन्य कमान ढांचा नहीं, कोई बहुराष्ट्रीय सैन्य बल नहीं और न ही किसी साझा आपातकालीन सैन्य योजना का कोई अनुभव।

इसके सदस्य देशों के दुश्मन और रणनीतिक प्राथमिकताएं बिल्कुल अलग हैं। पाकिस्तान की चिंता भारत है; सऊदी अरब का ध्यान खाड़ी क्षेत्र पर है; और तुर्की की प्राथमिकताएं सीरिया, इजरायल से लेकर रूस और पूर्वी भूमध्य सागर तक फैली हैं। ऐसे में, बांग्लादेश खुद को ऐसे संघर्षों में फंसा सकता है जिनका उससे कोई लेना-देना नहीं। क्या यह संधि कश्मीर पर होने वाले किसी नए भारत-पाकिस्तान युद्ध पर लागू होगी? क्या सऊदी क्षेत्र पर किसी ईरानी हमले की स्थिति में बांग्लादेश को सेना भेजनी पड़ेगी?

मक्का समझौते से ढाका को

कूटनीतिक वजन मिलेगा। यह

समझौता उसे वास्तविक सैन्य

सुरक्षा के मुकाबले बड़ा कूटनीतिक

और प्रतीकात्मक दबाव बनाने का

जरिया देता है

फोटो: गेट्टी इमेज



मक्का समझौते के दौरान तुर्की के राष्ट्रपति रजब तैयब एर्दोगान, सऊदी क्राउन प्रिंस मोहम्मद बिन सलमान और पाकिस्तान के प्रधानमंत्री शहबाज शरीफ (इनसेट) बांग्लादेश के प्रधानमंत्री तारिक रहमान



तुर्की की इसराइल से झड़प होती है तो ढाका से क्या उम्मीद होगी? और फिर, अगर बांग्लादेश की म्यांमार सीमा पर सैन्य झड़प होती है, तो क्या ये देश मदद को आएंगे? जब तक इन सवालों के जवाब नहीं मिलते, यह समझौता बांग्लादेश को सुरक्षा का केवल भ्रम देता है, जबकि उसे दूसरों के युद्ध में घसीटे जाने का वास्तविक जोखिम पैदा करता है।

इसके आर्थिक जोखिम कहीं अधिक तात्कालिक और गंभीर हैं। बांग्लादेश ने वित्त वर्ष 2025-26 में वस्तु निर्यात से 48 अरब डॉलर की कमाई की। उसका कपड़ा और परिधान उद्योग पश्चिमी देशों पर निर्भर है: यूरोपीय संघ उसका सबसे बड़ा व्यापारिक साझेदार है, जबकि 2025 में अमेरिका द्वारा बांग्लादेश से किया जाने वाला आयात 9.5 अरब डॉलर तक पहुंच गया था।

देश को जापान और चीन से भारी निवेश, खाड़ी देशों से ऊर्जा और भारत के

साथ कामकाजी रिश्तों की सख्त जरूरत है। उसका आर्थिक विकास मॉडल प्रतिस्पर्धी राजनीतिक गुटों से व्यापारिक संबंध बनाए रखने पर टिका है।

काबा समझौते की सदस्यता लेने से बांग्लादेश के लिए पश्चिमी बाजार तुरंत बंद नहीं होंगे। सऊदी और तुर्की दोनों के वाशिंगटन से गहरे संबंध हैं। तुर्की खुद नाटो का सदस्य है। चीन भी शायद ऐसे किसी ढांचे का विरोध नहीं करेगा जिसमें पाकिस्तान हो।

असली खतरा धीरे-धीरे गहराने वाले राजनीतिक दुष्प्रभावों का है। अगर यह समझौता ईरान या इसराइल से किसी सीधे टकराव में उलझता है, तो बांग्लादेश को पश्चिमी देशों के कड़े कूटनीतिक दबाव का सामना करना पड़ेगा। अगर इसका चरित्र भारत-विरोधी बनता है, तो नई दिल्ली व्यापार, वीजा, कनेक्टिविटी, सीमा प्रबंधन या क्षेत्रीय कूटनीति के जरिये पलटवार कर सकती है। यदि सऊदी और तुर्की अलग-अलग दिशाओं में खिंचते हैं, तो ढाका को चुनना होगा कि वह किसका साथ दे।

बांग्लादेश ने पारंपरिक रूप से अपनी रणनीतिक अस्पष्टता को बड़े आर्थिक लाभ में बदला है। वह चीन से हथियार खरीदता है, पश्चिम को कपड़े बेचता है, खाड़ी से रेंटिमेंस पाता है, जापान से बुनियादी ढांचे के लिए वित्तीय मदद लेता है और भारत से व्यावहारिक रिश्ता

बनाए रखता है। यह कूटनीतिक लचीलापन ऐसे देश के लिए बड़ी ताकत है, जिसके पास किसी बड़े भू-राजनीतिक टकराव या प्रतिबंधों को झेलने की ताकत नहीं। अब तक इस समझौते की किसी अंतरराष्ट्रीय संकट में ‘सामूहिक रक्षा’ के वादे की परीक्षा नहीं हुई। समझदारी का रास्ता यही होगा कि ढाका बिना किसी बाध्यकारी सैन्य शर्त के केवल सहयोग का रुख अपनाए: जैसे पर्यवेक्षक का दर्जा, संयुक्त सैन्य अभ्यास, खुफिया सूचनाओं का आदान-प्रदान, साइबर सुरक्षा, समुद्री निगरानी और साझा रक्षा उत्पादन। पूर्ण सदस्यता तब तक टालनी चाहिए जब तक कि संधि यह स्पष्ट न कर दे कि वास्तविक हमला किसे माना जाएगा, क्या सैन्य कार्रवाई अनिवार्य होगी, विवादित क्षेत्रों के मामले में क्या नीति होगी और क्या सदस्य के पास प्रतिक्रिया तय करने का संभूत अधिकार होगा।

वर्तमान में, यह समझौता केवल एक महत्वाकांक्षी वादा भर है जिसका राजनीतिक मूल्य उसकी वास्तविक सैन्य क्षमता से कहीं अधिक आंका जा रहा है। बांग्लादेश के पास इसके साथ कूटनीतिक संवाद के कई कारण हैं। लेकिन उसने अब तक यह साबित नहीं किया है कि वे कारण इस सैन्य समझौते में औपचारिक रूप से शामिल होने के लिए काफी हैं। ■

फैसल महमूद ढाका में रहने वाले वरिष्ठ फकार है

आस-पड़ोस में अछूत बनता भारत

भारत का खतरनाक अलगाव और चीन द्वारा उसकी कूटनीतिक घेराबंदी खोफनाक सच्चाई

कर दिया-वह थी चीन-पाकिस्तान साझेदारी के जमीनी सैन्य तालमेल का असली रूप। पाकिस्तान ने चीनी विमानों, मिसाइलों और वायु रक्षा प्रणालियों का इस्तेमाल किया। भारत के उप-सेना प्रमुख ने बाद में यह बयान दिया था कि चीन ने पाकिस्तान को भारतीय रणनीतिक ठिकानों की लाइव जानकारी मुहैया कराई थी। बीजिंग आधिकारिक रूप से कूटनीतिक दूरी बनाए रखने का नाटक करते हुए भी खुलेआम पाकिस्तान का समर्थन कर रहा था।

दो मोर्चों पर मंडराने वाले जिस खतरे को रोकने की जिम्मेदारी भारत की विदेश नीति की थी, वह अब पूरी तरह एक खोफनाक सच्चाई बन चुका है। जहां एक तरफ पाकिस्तान को चीन से बेहतर हथियार, खुफिया जानकारी और कूटनीतिक सुरक्षा कवच मिल रहा है, वहीं दूसरी तरफ भारतीय सरकार मीडिया की सुर्खियों को प्रबंधित करने में व्यस्त है।

चीनी घेराबंदी का खतरा केवल पाकिस्तान तक सीमित नहीं। चीन पाकिस्तान, बांग्लादेश, श्रीलंका और मालदीव का सबसे बड़ा व्यापारिक साझेदार बन चुका है, जबकि नेपाल भी लगातार चीनी निवेश और कनेक्टिविटी की ओर झुक रहा है। भारत के पड़ोसी देश पूंजी, बुनियादी ढांचे, बाजारों और कूटनीतिक बढ़त के लिए तेजी से चीन पर निर्भर होते जा रहे हैं। उनका यह चीनी झुकाव बताता है कि भारत अपने पास-पड़ोस को संभालने में कितना नाकाम रहा है।

प्रधानमंत्री मोदी ने 2014 में सत्ता संभालते ही बड़े तामझाम के साथ ‘पड़ोसी पहले’ नीति की घोषणा की थी। बारह साल बाद, स्थिति यह है कि पड़ोसी देश उनकी सरकार की प्राथमिकताओं में सबसे निचले पायदान पर जा चुके हैं। वर्तमान कार्यप्रणाली यह है कि कम मित्रवत सरकारों पर दबाव बनाया जाए और संबंध बिगड़ने पर थोड़ी-बहुत मदद का झुनझुना थमा दिया जाए। छोटे पड़ोसी देश सम्मान, संप्रभुता का दाव्या और एक स्थिर और भरोसेमंद नीतिगत ढांचा चाहते हैं; वे इसे नापसंद करते हैं कि उनके साथ आश्रितों जैसा बर्ताव किया जाए या जब उनके विकल्प से भारत के नाखुश होने पर उन्हें सजा मिले।

इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण बांग्लादेश है। प्रधानमंत्री मोदी ने इस द्विपक्षीय रिस्ते को पूरी तरह शेख हसीना के साथ जोड़ दिया था, और उनकी तानाशाही प्रवृत्तियों को नजरअंदाज किया क्योंकि वह भारत के सुरक्षा हितों की रक्षा करती थीं। जब 2024 के जन-विद्रोह ने उन्हें देश छोड़कर भागने पर मजबूर किया, तो भारत ने उन्हें शरण दी। दिल्ली ने उनकी जगह आई अंतरिम सरकार पर अविश्वास जताया। नए प्रधानमंत्री तारिक रहमान ने बेहतर रिश्तों की पहल की थी, लेकिन उनकी भारत यात्रा फिलहाल अटक गई है।

ढाका तब और भड़क गया जब भारत हसीना के प्रत्यर्पण की मांगों पर कुंडली मारकर बैठ गया और हसीना ने नई दिल्ली से एक प्रेस कॉन्फ्रेंस को संबोधित किया। सीमा पर बाड़ लगाने, लोगों को जबरन निर्वासित करने और भाजपा नेताओं के भारत-विरोधी बयानों ने कड़वाहट को और गहरा कर दिया है। रहमान संप्रभु समानता की बात कर रहे हैं। बांग्लादेश अब पाकिस्तान के प्रति नरमी और खुलापन दिखा रहा है, साथ ही चीन के साथ अपने संबंधों को और बेहतर करने में जुटा है-जिसका सीधा परिणाम भारत के घटते प्रभाव के रूप में सामने आ रहा है।

नेपाल के नए प्रधानमंत्री बालेन शाह भी

देश के भीतर मले ही मोदी के

कड़े और आक्रामक नेतृत्व के

बड़े-बड़े दावे किए जाते रहे हों,

लेकिन चीन के मामले में भारत

का रवैया बेहद दबू-सा रहा है

अपने देश की कूटनीतिक प्राथमिकताओं को नए सिरे से तय कर रहे हैं। शाह ने अब तक भारत का दौरा नहीं किया है, और उन्होंने काठमांडू में भारतीय राजदूत से मिलने के ठीक बाद चीनी राजदूत से भेंट की, जो उनके खुलेपन का साफ संकेत है। नेपाल कृषि, स्वास्थ्य, पर्यटन और प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में भी चीनी निवेश आकर्षित करने में लगा है। 2015 की आर्थिक नाकेबंदी और मोदी के बड़े भाई वाले रवैये की यादें आज भी लोगों के जेहन में ताजा हैं, और मौजूदा भारतीय सरकार यह उम्मीद नहीं कर सकती कि इतिहास और भूगोल हमेशा उसके लिए वफादारी की गारंटी देंगे।

अब बात श्रीलंका की। 2025 में प्रधानमंत्री हरिणी अमरसूर्या ने कुछ ही दिनों के अंतराल पर चीन और भारत का दौरा किया। बीजिंग में उन्होंने कोलंबो पोर्ट सिटी, हंबनटोटा बंदरगाह और अन्य बुनियादी ढांचा परियोजनाओं के लिए चीनी समर्थन की खुलकर तारीफ की। वहीं दिल्ली में उन्होंने शिक्षा, प्रौद्योगिकी और संस्वागत सुधारों में भारत को अहम साझेदार बताया। श्रीलंका की यह ‘दोहरी कूटनीतिक चाल’ चीन और भारत के बीच रणनीतिक और आर्थिक रिश्तों में संतुलन बनाने के लिए है, लेकिन चीन का आर्थिक वजन तेजी से उसके फैसलों को तय कर रहा है।

‘इंडिया-आउट’ अभियान के दम पर मालदीव की सत्ता में आई मोहम्मद मुइज्जू की सरकार ने चीन के साथ अपने संबंध काफी प्रगाढ़ कर लिए हैं। वहां की संसद ने पाकिस्तान और बांग्लादेश के साथ मिलकर सऊदी के नेतृत्व वाले ‘बहुराष्ट्रीय समुद्री रक्षा गठबंधन’ में शामिल होने के प्रस्ताव को भी मंजूरी दे दी है। इस उभरते हुए सुरक्षा ढांचे से भारत का नदारद रहना एक और स्पष्ट प्रमाण है कि माले अब दिल्ली से परे अपने सामरिक विकल्प तलाश रहा है।

पिछले एक दशक में चीन ने महत्वपूर्ण ढांचागत बढ़त हासिल की है। उसकी अर्थव्यवस्था का आकार बहुत बड़ा है और उसके पास वित्तीय संसाधन तथा सैन्य ताकत भी कई गुना अधिक है। वह बड़े पैमाने पर

बुनियादी ढांचा परियोजनाएं पूरी कर सकता है और देशों में होने वाले राजनीतिक बदलावों के बावजूद उनके साथ लगातार संवाद बनाए रख सकता है। उसकी विदेश नीति इस क्षेत्र के कई छोटे देशों की जमीनी हकीकत के अनुकूल दिखती है-बीजिंग संप्रभुता और अहस्तक्षेप की भाषा बोलता है। इसके विपरीत, देश के भीतर मोदी सरकार के कदमों और उसकी विदेश नीति के फैसलों ने भारत के पड़ोसियों के लिए चीन के प्रस्तावों को और आकर्षक बना दिया है।

मोदी सरकार का बहुसंख्यकवादी एजेंडा, अल्पसंख्यकों पर हमले, और बंगाल और असम में कथित अवैध प्रवासियों को जबरन खदेड़ने की कोशिशों पर बांग्लादेश, मालदीव और अन्य देशों में बहुत बारीकी से नजर रखी जा रही है। भारतीय मुसलमानों को निशाना बनाने वाली विभाजनकारी बयानबाजी और पाकिस्तान तथा बांग्लादेश को उनके सुरक्षित ठिकाने के रूप में चित्रित करने वाले कुप्रचार ने भारत की अंतरराष्ट्रीय छवि को गहरा धूमिल किया है और उसकी कूटनीतिक गुंजाइश को बेहद संकीर्ण कर दिया है।

अजीत डोवाल का प्रतिनिधिमंडल सीमा प्रबंधन को लेकर कुछ आपवासनों के साथ 25 अगस्त को बीजिंग से लौट आया, लेकिन इसकी अभी कोई पुष्टि नहीं हुई है कि राष्ट्रपति शी जिन्पिंग ब्रिक्स सम्मेलन की शोभा बढ़ाएंगे या नहीं। अगर शी जिन्पिंग एक बड़े प्रतिनिधिमंडल के साथ आ भी जाते हैं, तब भी यह कूटनीतिक शक्ति के अंतर्निहित संतुलन को नहीं बदल पाएगा। चीन अच्छी तरह सीख चुका है कि वह एक ही समय में हिमालयी क्षेत्र में भारत पर दबाव भी बना सकता है, भारतीय बाजार से मुनाफा भी कमा सकता है, पाकिस्तान की सैन्य ताकत को मजबूत भी कर सकता है और पूरे दक्षिण एशिया में अपने रिस्ते गहरे भी कर सकता है। मोदी की विदेश नीति ने रणनीतिक रूप से चीन को भारत की घेराबंदी करने में बहुत मदद दी है। ■

अशोक खेन स्वीडन की उत्सवा यूनिवर्सिटी में पीस ड्ड कॉन्फ्लिक्ट रिसर्च के प्रोफेसर है



डोवाल और वांग की बैठक का एजेंडा सीमा विवाद था, लेकिन बैठक के समय से कुछ और ही संकेत मिलता है

फोटो: गेट्टी इमेज

अशोक खेन

राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार अजीत डोवाल का बीजिंग दौरा, जहां उन्होंने चीनी विदेश मंत्री वांग यी के साथ ‘सीमा वार्ता’ की, 12-13 सितंबर को दिल्ली में होने वाले आगामी ब्रिक्स शिखर सम्मेलन से पहले की कूटनीतिक जमीन तैयार करने की कवायद है। अगर राष्ट्रपति शी जिन्पिंग सम्मेलन में शामिल नहीं होते हैं, तो आयोजन फीका पड़ जाएगा, और भारत के पास अभी तक उनके शामिल होने की कोई आधिकारिक पुष्टि नहीं है।

विवादित हिमालयी सीमा पर रणनीतिक समीकरण बदलने के लिए चीन द्वारा भारतीय क्षेत्र में सुनियोजित घुसपैठ किए जाने के छह साल बाद भी, भारत सीमा के मुद्दे से बचते हुए रिश्तों को सामान्य बनाने की कोशिश कर रहा है। यह अंतरराष्ट्रीय मंच पर एक दयनीय तमाशा पेश करता है और मोदी सरकार की चीन नीति की विकलता को बेनकाब करता है।

देश के भीतर भले ही मोदी के कड़े और आक्रामक नेतृत्व के बड़े-बड़े दावे किए जाते रहे हों, लेकिन चीन के मामले में भारत का



“भारतीय गरीब हो सकते हैं, उन्हें बिकाऊ समझने की भूल न करें”

पूर्व सॉलिसिटर जनरल हरीश साल्वे के साक्षात्कार पर वरिष्ठ पत्रकार **ए.जे. फिलिप** ने तीखे सवाल उठाते हुए उन्हें कठघरे में खड़ा किया है

आदरणीय हरीश साल्वे जी,

मैं अमूमन टीवी इंटरव्यू नहीं देखता। लेकिन रिपब्लिक टीवी पर अर्नब गोस्वामी को दिया आपका इंटरव्यू देखने के लिए मुझे उस छोटे वीडियो क्लिप ने मजबूर किया, जो मेरे एक मित्र ने भेजा था। उसमें आपकी कुछ बातें सुनकर मुझे गहरा धक्का लगा और मैंने अपनी सहनशीलता की परीक्षा लेते हुए यूट्यूब पर वह पूरा इंटरव्यू देखा।

उसे देखते हुए मुझे 1990 के दशक में ‘जैन टीवी’ के साथ आपके पिता एन.के.पी. साल्वे के इंटरव्यू की याद आ गई। तब अर्नब गोस्वामी शायद ‘जेसुइट पादरियों वाले किसी स्कूल में पढ’ रहे होंगे- जैसा कि उन्होंने अपनी शैक्षणिक पृष्ठभूमि का उल्लेख करते हुए खुद कहा है।

अर्नब फाइव-स्टार होटल के जिस सुइट में आपका इंटरव्यू ले रहे थे, उसकी भव्यता दिखाकर शायद दर्शकों को प्रभावित करना चाह रहे थे। मैंने दिल्ली के चार नामचीन वकीलों के जीवन को बहुत करीब से देखा है। उनमें से दो 20-25 एनजीओ को करोड़ों रुपये का नियमित आर्थिक सहयोग देते हैं। दोनों की ज्यादातर कमाई अंतरराष्ट्रीय मध्यस्थता से होती है। एक ने तो मध्यस्थता कानून के अध्ययन को बढ़ावा देने के लिए एक प्रतिष्ठित लॉ यूनिवर्सिटी में अपने पिता की स्मृति में एक पीठ भी स्थापित की है, जो स्वयं एक जाने-माने वकील थे।

वर्ष 2018 में जब केरला में विनाशकारी बाढ़ आई, उनमें से एक वकील ने दो सरकारी स्कूलों के पुनर्निर्माण के लिए मेरे नेतृत्व वाली संस्था को 35 लाख की मदद दी थी। हमने डेढ़ महीने में 27 लाख खर्च कर वह काम पूरा किया। जब मैंने बची राशि लौटाने की पेशकश की, तो उन्होंने मुझसे उसे भी जरूरतमंदों पर ही खर्च करने को कहा। हमने उस राशि से अपने गरीब छात्रों को भारी सब्सिडी वाली सर्टि्यों की स्कूल यूनिफॉर्म उपलब्ध कराई।

यह संदर्भ मुझे आपके उस बयान की याद दिलाता है जिसमें आपने कहा है कि आप ‘दान’ की अवधारणा समझ ही नहीं पाते। शायद इसलिए क्योंकि आपने दूसरों को निःस्वार्थ भाव से कुछ देने का आत्मिक संतोष कभी महसूस ही नहीं किया।

मैंने 23 सालों तक दिल्ली के एक चर्च के सात सदस्यों द्वारा 1979 में स्थापित एक एनजीओ का संचालन किया है। इन वर्षों में चार लाख से अधिक

गरीब बच्चों ने हमारे कार्यक्रमों के जरिये अच्छी शिक्षा प्राप्त की। शुरू में हमारी फंडिंग का 90 फीसद विदेशों से आता था; आज यह घटकर पांच फीसद से भी कम रह गया है। किसी भी दानदाता ने कभी नहीं कहा कि पैसे का उपयोग किसी का धर्मांतरण में किया जाए।

मैं दावे से कह सकता हूं कि हमारे प्रयासों से शिक्षित एक भी छात्र ईसाई नहीं बना। यदि वे अच्छे और सच्चे नागरिक बनकर देश की सेवा कर रहे हैं, तो मेरे लिए यही सबसे बड़ा संतोष है। आप इस बात को नहीं समझ पाएंगे, क्योंकि शायद आप इसे समझना ही नहीं चाहते।

अर्नब ने आपको देश का प्रमुख ईसाई चेहरा बताया। आपने गर्व से कहा कि आपकी ईसाई पृष्ठभूमि नरेन्द्र मोदी सरकार द्वारा आपको सॉलिसिटर जनरल नियुक्त करने के आड़े नहीं आई। किसी भी व्यक्ति का धर्म उसके सार्वजनिक पद की योग्यता का पैमाना होना भी नहीं चाहिए। लेकिन जरा देश के राजनीतिक फलक पर नजर डालिए कि केन्द्र और राज्यों में कितने मुस्लिम और ईसाई मंत्री या राज्यपाल हैं? अगर यह संख्या नगण्य है, तो क्या इसका मतलब यह निकाला जाए कि देश में योग्य मुस्लिम और ईसाई हैं ही नहीं? इसलिए,केवल आपकी नियुक्ति इसका प्रमाण नहीं हो सकती कि व्यवस्था में भेदभाव या पूर्वाग्रह मौजूद ही नहीं।

जब पंजाब एवं हरियाणा हाईकोर्ट में मेरे खिलाफ मुकदमा था, मेरी पैरवी करने वाले वकील पूर्व मुख्य न्यायाधीश जस्टिस राजेंद्र सच्चर थे। हमने जिस दूसरे वरिष्ठ वकील से सलाह ली थी, वह स्वर्गीय फली एस. नरीमन थे। इनमें कोई ईसाई नहीं था।

जीवन में कई डॉक्टरों ने मेरा इलाज किया है। जिस डॉक्टर का मैं सबसे अधिक सम्मान करता हूं, वह त्रिवेद्रम मेडिकल कॉलेज के पूर्व प्रिंसिपल स्वर्गीय डॉ. नारायण पर्ई थे। वहीं जिस डॉक्टर को मैं सबसे कड़वे अनुभव के साथ याद करता हूं, वह कोट्टायम मेडिकल कॉलेज के सर्जरी विभाग के एक प्रोफेसर थे जिन्होंने मेरे पिता के टूटे पैर का ऑपरेशन एक हजार रुपये की रिश्त के लिए तीन दिन टाला। वह संयोग से मेरी ही तरह सीरियन ईसाई थे। प्रतिभा हो या भ्रष्टाचार, उसका कोई धर्म नहीं होता।

अर्नब चाहते थे कि आप नए एफसीआरए कानून पर सरकार को क्लीन चिट दें। मैं दाद देता हूं कि आपने यह सच स्वीकार किया कि भारत आने वाले करीब 23,000 करोड़ के कुल विदेशी चंदे में ईसाइयों

को 10 फीसद ही मिलता है। बाकी 90 फीसद किसे मिलता है? जाहिर है, हिन्दू संगठनों को।

मोदी सरकार ने कुछ सालों में हजारों एनजीओ के एफसीआरए लाइसेंस रद्द किए हैं, जिससे लाखों का रोजगार छिना। जिन संस्थाओं के नाम में ‘क्रिश्चियन’, ‘फेलोशिप’ या ‘चर्च’ जैसे शब्द थे, उन्हें खास तौर पर कड़ी जांच और प्रशासनिक दबाव का सामना करना पड़ा। नियम इतने सख्त हो गए हैं कि सामाजिक कार्य करना दूबर है। मुझे वित्तीय पारदर्शिता या जवाबदेही से परहेज नहीं। मेरी आपत्ति सरकार के दोहरे चरित्र पर है। ‘पीएम केयर्स फंड’ को लें। सार्वजनिक दस्तावेजों के अनुसार, वर्ष 2024-25 में इसके पास 8,452 करोड़ का बैलेंस था, जबकि उस पूरे वित्तीय वर्ष में इसका खर्च महज 87.85 लाख के आसपास था।

यदि किसी छोटे एनजीओ के लिए एक तय समय-

“

जब आप जैसे कद का व्यक्ति बोलता है, तो लाखों लोग सुनते हैं। आपके शब्द या तो पूर्वाग्रह को चुनौती दे सकते हैं या उसे और मजबूत कर सकते हैं। ऐसे में आपके गैर-जिम्मेदाराना बयान सामाजिक पूर्वाग्रहों को तोड़ने के बजाय उन्हें और अधिक गहरा कर देते हैं



सीमा के भीतर विदेशी अंशदान को खर्च करना जरूरी है और ऐसा न करने पर उसका एफसीआरए पंजीकरण रद्द हो सकता है, तो क्या हजारों करोड़ रुपये दबाकर बैठी सरकारी संस्थाओं पर पारदर्शिता का वही पैमाना लागू नहीं होना चाहिए? भारत में काम कर रही एक बहुराष्ट्रीय कंपनी ने हरियाणा के एक पिछड़े इलाके में स्कूल भवन बनाने में हमें वित्तीय मदद देने का वादा किया था। बाद में प्रशासनिक दबाव में कंपनी ने वह पैसा पीएम केयर्स फंड में दे दिया!

देश में कई आपदाएं आईं। यदि कोई आपातकालीन फंड हजारों करोड़ रुपये जमा कर लेता है लेकिन निधि का छोटा हिस्सा भी जरूरतमंदों पर खर्च नहीं करता, तो उसपर सवाल उठना स्वाभाविक है। आप या तो इन जमीनी वास्तविकताओं से अनजान हैं या सब जानते हुए अनजान बन रहे हैं। आपने इंटरव्यू में संकेत दिया कि ईसाई संस्थाएं पैसे का लालच देकर धर्मांतरण कराती हैं। मेरी आपको खुली चुनौती है: पूरे देश में एक भी ऐसा व्यक्ति दिखाइए जिसने केवल पैसें के लिए धर्म बदला हो। भारतीय गरीब हो सकते हैं, लेकिन उन्हें बिकाऊ समझने की भूल मत कीजिए।

अर्नब ने दावा किया कि उनकी रिपोर्टर को एक स्टिंग ऑपरेशन के दौरान धर्मांतरण और स्थानीय व्यक्ति से शादी की पेशकश की गई। उसके खिलाफ शिकायत क्यों नहीं की गई? अर्नब ने यह भी कहा कि आपने एक मामले में अदालत में उनकी पैरवी की थी। आज देश की विभिन्न जेलों में दर्जनों गरीब ईसाई बंद हैं जिनपर धर्मांतरण के झूठे आरोप हैं। अगर आप सचमुच ईसाई समाज के प्रति हमदर्दी दिखाना चाहते हैं, तो बिना फीस लिए इनमें से किसी एक गरीब और बेकसूर का मुकदमा लड़कर दिखाइए।

आपने धार्मिक स्वतंत्रता पर लच्छेदार भाषण दिए। लेकिन जिस संसदीय क्षेत्र का प्रतिनिधित्व कभी आपके पिता करते थे, आज वहां ईसाई अपने घरों में भी निजी प्रार्थना सभा तक नहीं कर सकते। भगवा गमछा डाले उपद्रवियों का कोई भी छोटा गिरोह चर्च में घुसकर निंदोष श्रद्धालुओं को सरेआम प्रताड़ित करता है और पुलिस तमाशबीन बनी रहती है। ईसाइयों

और मुसलमानों के इस खुले उत्पीड़न के खिलाफ सार्वजनिक मंचों पर बोलने का नैतिक साहस दिखाइए। ऐसा करते ही सरकार से मिलने वाले मुकदमों की फाइलें बंद हो जाएंगी और अर्नब गोस्वामी टीवी पर कहने लगेंगे कि आपने ‘असली रंग’ दिखा दिया है।

उन्नीसवीं सदी के शुरू में जब ईसाई मिशनरी विलियम केरी भारत आए थे, तो उन्होंने सबसे पहले ऐसा स्कूल खोला जिसमें हर जाति और वर्ग के बच्चे का स्वागत था। मिशनरी गतिविधियों पर किसी का नजरिया जो भी हो, यह सच है कि शिक्षा ही गरीबी का अचूक इलाज है। आज कई उत्तरी राज्यों में हजारों प्राथमिक सरकारी स्कूल बंद हो चुके हैं।

आपके साक्षात्कार में जिस बात ने मुझे सबसे ज्यादा विचलित किया, वह यही थी। मुझे आपकी अकूत संपत्ति, आपके आलीशान होटल सुइट, आपकी महंगी घड़ियों, आपकी अंतरराष्ट्रीय वकालत या आपके रसूखदार मुक्किलों से कोई इर्ष्या नहीं। अपनी कड़ी मेहनत की कमाई का आनंद लेने का आपको पूरा हक है। लेकिन सार्वजनिक जीवन में बड़ी सफलता अपने साथ नैतिक जिम्मेदारी भी आती है। जब आप जैसा रसूखदार व्यक्ति ईसाई समुदाय, नागरिक संगठनों, विदेशी सहायता और गरीबी पर बोलता है, तो करोड़ों लोग उसे सच मान लेते हैं। आपके शब्द समाज के संकीर्ण पूर्वाग्रहों को चुनौती दे सकते हैं या उन्हें और जहरीला बना सकते हैं।

चाहें तो इस पत्र को अपने से दो साल बड़े एक बुजुर्ग पत्रकार की बकवास बड़बड़ाहट मान खारिज कर सकते हैं। मैंने जीवन में धन, सत्ता, गरीबी, उदारता और पाखंड को करीब से देखा। इस सफर में मैंने यही सीखा है: किसी व्यक्ति का धर्म मुझे उसके चरित्र के बारे में कुछ नहीं बताता; उसके कर्म और आचरण ही उसका सच बयान करते हैं।

भवदीय,

ए.जे. फिलिप

इस पत्र का विस्तृत मूल संस्करण ‘इंडियन करेंट्स’ में प्रकाशित हो चुका है

पुणे में स्त्रीगामी प्रतिरोध का आगाज़

भारतीय राजनीति में स्त्रीगामी व्यक्तित्व का आगमन सुखद, यह स्त्रीवादिता का शंखनाद

मीनाक्षी नटराजन

पुणे में स्त्रीगामी प्रतिरोध का आगाज़ हुआ। उन छात्राओं की अनुर्गुज अब भी वातावरण में छाई हुई है। इस सुखद शुरुआत ने बहुत सारे ख्यालों को पुनर्जीवित किया।

पुणे वह भूमि है जहां स्त्री मुक्ति का पहला बिगुल बजा। सावित्री बाई फुले और फातिमा बीबी ने महात्मा ज्योतिबा फुले की प्रेरणा से स्त्री शिक्षा की नींव रखी। हम अक्सर रानी लक्ष्मीबाई को याद करते हैं। पर उनसे काफी पहले शिक्षा स्वराज के लिए सावित्री बाई और फातिमा बीबी ने कमर कसी। अलबत्ता, तलवार सत्तावन में चमकी। कलम उसके बहुत पहले चमकने लगी। उसी पुणे में इन कलम स्वराजियों पर गोबर फेंका गया था। छात्राओं की गुंज के नेपथ्य में मुस्कुराती सावित्री और फातिमा की खनक सुनाई पड़ रही है। वे जरूर तृप्त होंगी कि उनकी लड़ाई एक महत्वपूर्ण पड़ाव तक पहुंची है।

यह भी छोटी बात नहीं कि इस देश के दो पुरुष जिन्हें महात्मा कहकर नवाजा गया, स्त्रीगामी थे। वह स्त्रीगामिता उनकी राजनीति थी। केवल वैयक्तिक अभ्यास नहीं। उन्होंने यह तय किया कि राजनीति में आने वाली स्त्री को मर्द नहीं होना पड़ेगा। राजनीति को चाहिए कि वह स्त्रीगामी बनाई जाए, क्योंकि हर निजता राजनीतिक है।

सामंतशाही में स्त्री सत्ता में केवल तब प्रवेश पाती थी जब दरबारी राजनीति उन्हें इसकी इजाजत देती थी। वह भी पितृसत्ता के वाहक के बतौर। हम आज भी देखते हैं कि स्त्री को अपनी क्षमता साबित करनी पड़ती है। उसे जबरदस्ती सुपर वुमन होना पड़ता है। राजनीति ही नहीं, हर कार्यक्षेत्र का स्वरूप इतना मर्दाना होता है कि वे कृतिम मर्दपन ओढ़ने को मजबूर हैं।

उसके लिए मानदंड भी पुरुष प्रधान समाज बनाता है। “अच्छी” स्त्री कहलाने के लिए पुरुषों की तुलना में कुछ अधिक करना पड़ता है। वह गलती नहीं कर सकती। गलती को उसकी कमजोरी के रूप में आंका जाता है।



पुणे फातिमा बीबी और सावित्री बाई फुले की भूमि रही है। यहां से राहुल गांधी का छात्रों की गुंज कार्यक्रम में राजनीति के स्त्रीकरण के उद्घोष का खास महत्व है



पुणे फातिमा बीबी और सावित्री बाई फुले की भूमि रही है। यहां से राहुल गांधी का छात्रों की गुंज कार्यक्रम में राजनीति के स्त्रीकरण के उद्घोष का खास महत्व है

पुणे फातिमा बीबी और सावित्री बाई फुले की भूमि रही है। यहां से राहुल गांधी का छात्रों की गुंज कार्यक्रम में राजनीति के स्त्रीकरण के उद्घोष का खास महत्व है

पुणे फातिमा बीबी और सावित्री बाई फुले की भूमि रही है। यहां से राहुल गांधी का छात्रों की गुंज कार्यक्रम में राजनीति के स्त्रीकरण के उद्घोष का खास महत्व है

पुणे फातिमा बीबी और सावित्री बाई फुले की भूमि रही है। यहां से राहुल गांधी का छात्रों की गुंज कार्यक्रम में राजनीति के स्त्रीकरण के उद्घोष का खास महत्व है

पुणे फातिमा बीबी और सावित्री बाई फुले की भूमि रही है। यहां से राहुल गांधी का छात्रों की गुंज कार्यक्रम में राजनीति के स्त्रीकरण के उद्घोष का खास महत्व है

पुणे फातिमा बीबी और सावित्री बाई फुले की भूमि रही है। यहां से राहुल गांधी का छात्रों की गुंज कार्यक्रम में राजनीति के स्त्रीकरण के उद्घोष का खास महत्व है

पुणे फातिमा बीबी और सावित्री बाई फुले की भूमि रही है। यहां से राहुल गांधी का छात्रों की गुंज कार्यक्रम में राजनीति के स्त्रीकरण के उद्घोष का खास महत्व है

पुणे फातिमा बीबी और सावित्री बाई फुले की भूमि रही है। यहां से राहुल गांधी का छात्रों की गुंज कार्यक्रम में राजनीति के स्त्रीकरण के उद्घोष का खास महत्व है

पुणे फातिमा बीबी और सावित्री बाई फुले की भूमि रही है। यहां से राहुल गांधी का छात्रों की गुंज कार्यक्रम में राजनीति के स्त्रीकरण के उद्घोष का खास महत्व है

पुणे फातिमा बीबी और सावित्री बाई फुले की भूमि रही है। यहां से राहुल गांधी का छात्रों की गुंज कार्यक्रम में राजनीति के स्त्रीकरण के उद्घोष का खास महत्व है

पुणे फातिमा बीबी और सावित्री बाई फुले की भूमि रही है। यहां से राहुल गांधी का छात्रों की गुंज कार्यक्रम में राजनीति के स्त्रीकरण के उद्घोष का खास महत्व है

पुणे फातिमा बीबी और सावित्री बाई फुले की भूमि रही है। यहां से राहुल गांधी का छात्रों की गुंज कार्यक्रम में राजनीति के स्त्रीकरण के उद्घोष का खास महत्व है

होते भेद को देखने से चूक जाता है। प्रभुत्व संपन्न वर्ग की महिलाएं मैला साफ करते समुदाय को हेय मानती हैं। यह भेद पितृसत्ता से विलग नहीं है। बा को इसका एहसास बापू ने कराया। मगर बा ने ही उनको सत्याग्रह का सबक सिखाया। नियंत्रण या कंट्रोल से कभी बदलाव नहीं हो सकता। वह जुड़ाव से होता है। बापू के भीतर छुपे पुरुषोचित कहे जाते अहम, पितृसत्ता को बा ने ही नेस्तनाबूद किया। बापू खुद मानते थे कि कस्तूरबा ने उनको सत्याग्रह की राह दिखाई। सत्याग्रह में नियंत्रण के लिए कोई जगह नहीं होती।

बापू की इसी स्त्रीगामी पहल ने लाखों महिलाओं को सत्याग्रह से जुड़ने का मौका दिया। जब हर घर में इस्तेमाल होते नमक से साम्राज्यवादी सत्ता की चूल्हे हिलीं, तब वह

स्त्रीवादिता का शंखनाद भी था। लगभग आधी शताब्दी के बाद बीते सप्ताह पुणे में एक मुख्यधारा के राजनीतिज्ञ ने पुनः राजनीति के स्त्रीकरण का उद्घोष किया। वैसे भारत जोड़ो यात्रा में जिस तरह स्त्रियों के प्रति सम्मान-संवेदना दिखाई दी, वह विरले ही किसी राजनेता में दिखाई पड़ती है। वरना किस राजनीतिज्ञ के पास स्त्री की वेदना को साझा करने के लिए कांधा है। छप्पन इंच के सीने में इतनी जगह नहीं कि वह सुध ले सके।

भारतीय राजनीति में स्त्रीगामी व्यक्तित्व का आगमन सुखद है। विगत में भी महिला सशक्तिकरण के कई प्रयास हुए हैं। देश के पहले प्रधानमंत्री ने परंपरागत सोच को खुली चुनौती दी और अनेक पुरुष प्रधान संस्थाओं को लैंगिक भेद से मुक्त किया। पूरी

जिम्मेदारी से कहा जा सकता है कि स्त्रियां उनके ईर्दगिर्द काम करते हुए, संवाद करते हुए बेहद सुरक्षित महसूस करती होंगी। चित्र दिखाते हैं,

बीमार मानसिकता, कुंठित सोच इसका जो मतलब निकाले। देश के पहले प्रधानमंत्री का अपनी बेटी के साथ किया गया ममतामय पत्राचार सार्वजनिक है। उन्हीं के कार्यकाल में स्त्री को संपत्ति का हक, हिन्दू स्त्री को तलाक और पुनर्विवाह के हक को परिभाषित करता हिन्दू कोड बिल पारित हुआ, जो संविधान निमाता बाबा साहेब की देन थी। वह स्त्री नेतृत्व ही था जो महिला न्याय का गौरवशाली दशक साबित हुआ। उसी दशक में अनेक स्त्रीगामी आंदोलन तैयार हुए। यह इसलिए भी संभव हुआ कि व्यवस्था उसके अनुकूल थी।

मथुरा नाम की नाबालिग आदिवासी लड़की के साथ पुलिस द्वारा यौन शोषण के बाद उठाई गई आवाज के परिणामस्वरूप

बलात्कार कानून का पुनः संशोधन हुआ। दहेज विरोधी कानून, समान काम पर समान वेतन आदि अनेक विधायी अधिकार स्थापित हुए। स्थानीय निकाय में एक तिहाई महिलाओं को मौका देने की पेशकश भी संवेदनशील राजनीति की देन थी। राजनीति के स्त्रीकरण का पुख्ता सबूत। नन्वे के दशक में ही कार्यस्थल पर महिला सुरक्षा की लड़ाई शुरू हुई। भंवरी देवी के साथ सामूहिक दुष्कर्म के बाद विशाखा नाम की संस्था द्वारा लड़ी गई लंबी कानूनी लड़ाई के बाद यह मुनासिब हुआ। भंवरी देवी राजस्थान सरकार की बाल विवाह उन्मूलन कार्यक्रम से जुड़ी थीं और दर्बंग समाज ने बदले की कार्रवाई में उनका बलात्कार किया था। गोयाकि उस वक्त आज केन्द्र में सत्तारूढ़ दल के प्रादेशिक नेता बलात्कारियों का मंच लगाकर स्वागत कर रहे थे।

स्त्रीगामी राजनीति ने ही बाद में महिला स्वावलंबन को स्व-सहायता समूह के रूप में संस्थागत किया। महात्मा गांधी नरेगा महिला को गांव ही में रोजगार देने के बड़े उद्देश्य से जुड़ी। घरेलू हिंसा को पारिवारिक मामले के दायरे से बाहर निकाला गया। यह राजनीतिक कदम था। स्त्री पिट नहीं सकती। पिते तो समाज और कानून आंखें नहीं फेर सकते।

यह विरासत पुणे में परिपूर्ण हुई। जब एक नेता ने अपने व्यक्तित्व और आभामंडल से स्त्री को मायके सा महसूस कराया। बेशक, वहां आधुनिक छात्राएं थीं। निडर, बेबाक आजाद अभिव्यक्ति थी। पर उस दिन घर में मोबाईल पर कार्यक्रम का सीधा प्रसारण सुनती गांव की भाभी-बहन-बेटी ने नम आंखों से कहा कि जो हम अपने मायके में भी बोलते वक्त हिचकिचाते हैं, वह सब यहां बोला जा रहा है। हम अब जानते हैं कि कोई हमें सुनेगा। बिना किसी पूर्वधारणा के तसल्ली देगा। उसके पास सुरक्षित छांव होगी।

प्रतिरोध में स्त्रीवादिता के कदमों की आहट पायल की खनखनाहट सी मधुर है। वह और पल्लवित होगी। ■

मोबाइल पर सीधा प्रसारण सुनती गांव की भाभी-बहन-बेटी ने कहा कि जो हम अपने मायके में भी बोलते वक्त हिचकिचाते हैं, वह पुणे में बोला जा रहा है। हम अब जानते हैं कि कोई हमें सुनेगा



धान का मौसम है, मेहमान का मौसम है

सावन और भादो ऐसे घुले-मिले हैं कि उन्हें अलग करके देखना मुमकिन नहीं

कृष्ण प्रताप सिंह

जब आप ये पंक्तियां पढ़ रहे हैं तो सावन हमारे बीच से जा चुका है और भादो ने दस्तक दे दी है। लेकिन महाकवि कालिदास के महाकाव्य 'रघुवंशम' के मंगलाचरण के पहले श्लोक के शब्दों में कहें तो दोनों इस तरह 'वागर्थविषय संपूक्तौ' (शब्द और अर्थ की तरह घुले-मिले) हैं कि उन्हें अलग करके देखना मुमकिन ही नहीं।

गीतकार आनंद बख्शी के लिखे और लता मंगेशकर के गाए ‘महबूबा’ फिल्म के गीत ‘मेरे नैना सावन-भादो, फिर भी मेरा मन प्यासा!’ में ही नहीं, अनेक दूसरे गीतों में भी मन की प्यास से विकल नायिकाएं नीर भरे नैनों से तड़प का इजहार करती हैं तो सावन-भादो को एक ही नजर से देखती हैं।

हिन्दी कवि आलोक धन्वा तो सबसे काली रातों, सबसे काले मेघों और सबसे तेज बौछारों का सारा क्रेडिट सावन के बजाय भादो को ही देते हैं। अपनी ‘पतंग’ कविता में वह लिखते हैं कि भादो मस्तूलों को झुकाती, नगाड़ों को गुंजाती, डंका पीटती, कुओं और तालाबों को झुलाती और साथ ही लालटेनों एवं मोमबत्तियों को बुझाती आती अपनी सबसे तेज बौछारों के साथ आता है और उन्हीं के साथ चला जाता है।

दादी बताती थीं कि कभी भादो में चिरई-चिरंगुल तक ‘उपवास’ करते थे, क्योंकि चैत में पैदा हुआ अनाज भादो तक खत्म हो जाता था और कुआर का महीना महीने भर दूर होता था। लेकिन भादो को कोई फर्क नहीं पड़ता। क्यों भला? हम पूछते तो दादी बतातीं : परम संतोषी है वह। इतने भर से संतुष्ट रह लेता है कि उसका नाम कुछ ऐसे लिया जाता है जैसे वह सावन का जुड़वा भाई हो।

भादो का स्वभाव अभी भी नहीं बदला है। निर्दंभ ही है वह। सावन मेघमालाओं के साथ भीगते-भगोते आता है तो ढेर सारी उममें उनके नाम कर दी जाती हैं, लेकिन भादो में शुभ कार्य की इजाजत नहीं होती, क्योंकि सारे शुभ कार्यों के साक्षी माने जाने वाले विष्णु के बारे में मान्यता है कि भादो लगते ही वह शयन करने पाताल लोक चले जाते हैं।

भादो छठा और चातुर्मास का दूसरा मास है और उसकी पूर्णिमा पर आकाश में पूर्वा या उत्तरा भाद्रपद नक्षत्रों का जो योग बनता है, उसके कारण उसका एक नाम भाद्रपद भी है। भगवान श्रीकृष्ण, उनकी आह्लादिनी राधा और बड़े भाई बलराम का जन्म भी उसी की धूप या छाया में हुआ है। उसके अंधेरे पाख की वह अष्टमी आती है-जब अपने भाई कंस के अत्याचार सहने को अभिशप्त और पति वसुदेव के साथ कारागार में बंद देवकी ने योगेश्वर कृष्ण को जन्म दिया और वसुदेव ने उन्हें कंस के हाथों से बचाने के लिए उफनाई यमुना

पार कर गोकुल पहुंचाया-तो वह भरपूर उल्लसित होता है।

हरियाली तीज, हरितालिका तीज, कजली तीज, गणेश चतुर्थी, कलंक चतुर्थी, हेरम्ब संकष्टी, ऋषि पंचमी, बुला या कि बहुला चौथ, डोला ग्यारस और अनंत चतुर्दशी सब के सब इस भादो की ही अमानत हैं, जिनमें कोई महिलाओं के सौभाग्य का व्रत है, कोई अनंत पुण्य प्राप्त करने का, कोई भगवान कृष्ण और उनकी गायों के पूजन का तो कोई संतान कामना का। उज्जैन में, जहां द्वादश ज्योतिर्लिंगों में तीसरा महाकालेश्वर ज्योतिर्लिंग स्थित है, भादो के पहले दो सोमवारों को भगवान महाकाल की सवारी निकालने की परंपरा भी उसका गौरव बढ़ाती ही है।

फिर भी अनेक कवि और शायर उसे न तीन में गिनते हैं, न तेरह में। उलटे उसकी रातों को अपनी कोमलगात नायिकाओं के लिए नागिन तक बना डालते हैं। लोकगायक और गायिकाएं तो यह तोहमत लगाने से भी बाज नहीं आते कि सावन बीत गया, भादो में गौरा पल-पल सूखी जाए।

ठीक है कि भादो की रातें काली भी होती हैं और अंधेरी भी, मगर काली तो नायिकाओं की लटें या जुल्फें भी होती हैं। वे नागिन सी लहराती हैं तो कविगण नायकों को उनसे डराते नहीं, उन्हें निहारने को ललचाते है, लेकिन भादो की रातों को लेकर डर का ऐसा तूमार बांधते हैं जैसे वे मौका पाते ही नायिकाओं को सचमुच काट खाएंगी। इसलिए उनकी नायिकाएं भले ही देश-दुनिया और अपने अंदर-बाहर का ढेर

कमी मादों में चिरई-चिरंगुल तक 'उपावास' करते थे, क्योंकि चैत में पैदा हुआ अनाज भादो तक खत्म हो जाता था और कुआर का महीना अभी दूर होता था। लेकिन भादो को कोई फर्क नहीं पड़ता। इसलिए कि वह परम संतोषी है



फोटो: गौरी कैफ़ेजो

सारा अंधेरा बिना उफ किए झेल लेती हैं, भादो की रातों का रोना रोती कतई नहीं थकती।

मैथिल कोकिल विद्यापति तक शिकायत करते हैं कि उनकी नायिका भादो की रातों की हाथ पसारे न सूझने वाली अन्हियरिया में बार-बार चिहुंक उठती है। चिहुंक उठती होगी भाई, विरहिणी हुई तो कलपती भी होगी। मगर पिया उसके पास हुए तो चिहुंककर उनके अंक में भी तो समा जाती होगी। उस समा जाने का थोड़ा बहुत क्रेडिट भादो को देना चाहिए या नहीं?

महेन्द्र मिसिर की यौवन के मद में माती नायिका अपने पिया को भरे भादो परदेस जाने को उद्यत देखकर सारी लाज-शरम बिसराकर यों ही तो नहीं कह देती कि वह चले गये और अकेली वह अपनी चढ़ी हुई जवानी को संभाल नहीं पाई, कुछ ऊंच-नीच कर बैठी तो वही जानें : अंगना में कीच-काच, दुआर पानी, खाला-ऊंचा गोड़ पड़ी चढ़ल बा जवानी, केकरा पै छोड़ि जाल्या टुटही पलानी, केकरा से आगि मांगब, केकरा से पानी? एतना बता के जइहा, कइसे दिन बीती राम।

मलिक मुहम्मद जायसी ने जरूर भादो के साथ थोड़ा इंसाफ किया है। यह लिखकर कि कोई बाला अपने कंत के साथ हो तो उसके लिए क्या सावन और क्या भादो! आकाश में बिजली चमकती है तो उसे

लगता है धरती पर सोना बरस रहा है। मेघ चमककर गरजते हैं तो वह चौंककर कंत को बांहों में भर लेती है। मलय समीर की सुगंध के बीच खिले हुए बेले के फूलों से उसकी सुख-सेज सजाई जाती है तो उसे सारा संसार हरा-हरा दिखाई पड़ने लगता है। फिर तो वह कुसुम्भी चोला पहनती और कंत के संग हिंडोला सजा लेती है। निस्संदेह, कंत नहीं होते, तो जायसी की विरहिणी नागमती को भी भादो ‘दूभर’ और ‘अति भारी’ लगने लगता है। वह व्याकुल होकर पूछने लग जाती है कि कइसे भरों रैन अंधियारी यानी यह अंधियारी रात कैसे बिताऊं?

लेकिन सोचिए जरा कि इसमें भादो की भला क्या खता? नागमती को जो सता रहा है, वह तो रत्नसेन का वियोग है। उस वियोग के ही कारण उसकी सेज तक नागिन बनकर उसे डसने पर आमामदा है और वह उसकी एक पाटी पकड़े रात गुजारने को अभिशप्त है। कभी उसकी आंखें फटने को तो कभी कलेजा मुंह को आ जाता है। लगता है कि बिजली बार-बार चमक कर एलान कर रही है कि विरहकाल उसके प्राण लेकर ही मानेगा।

फिर तो वह आक (मदार) और जवास की तरह सूख जाती और कलपती हुई कहने लगती है: बरसे

मघा झकोरि झकोरी। मोर दुड़ नैन चुवै जस ओरी। उसकी इस हालत से पूरी सहृदयता बरतते हुए भी कहना होगा कि उसका ठीकरा भादो पर फोड़ना वैसे ही है जैसे एक शायर ने कहा है कि पूछिए यों तो सरासर है कुसूर आंखों का, दिल तो बस मुप्त में बदनाम किया जाता है। इसका क्या तुक कि सारा कुसूर रत्नसेन के वियोग का और सारी तोहमतें भादो के सिर।

मुल्ला दाऊद के रचे हिन्दी के पहले ज्ञात सूफी प्रेमकाव्य ‘चंदायन’ के एक ‘कड़वक’ में उपनायिका मैना भी भादो को नहीं हो बख्शाती। कहती है कि भादौ की अंधेरी रातें डरावनी भी थीं और क्रूर भी, जबकि मैं बालिका। न कोई सखी थी, न सहेली। बिजली चमकती थी तो मुझ अकेली का हृदय फट जाता था-आंखें जैसे फूटकर वह निकलने और धरती और सागरों को भरने को आतुर हो उठती थीं। ऐसे में, लब्धप्रतिष्ठ कवि और गीतकार डॉ. ओम निश्चल को शुक्रिया कहने का मन होता है कि उन्होंने अपनी एक कविता में भादो का भरपूर खयाल रखा है : पांवों से कहो थिरकें/ हैं कह रही फिजाएं/यह धान का मौसम है/...सावन अभी गया है/भादो का मन नया है/ पतों में ताजगी है/तन-मन बिगो गया है।/आने लगे हैं पाहुन/ मेहमान का मौसम है। ■

सभ्यता, संस्कृति और युद्ध के बीच ईरान

सभ्यता और सत्ता, स्वतंत्रता और नियंत्रण, प्रतिरोध और युद्ध के बीच लिखी जा रही है ईरान की कहानी

शैलेन्द्र चौहान

ईरान को समझना केवल आधुनिक राष्ट्र-राज्य को समझना नहीं है। यह उस सभ्यता को समझने की कोशिश है जिसने हजारों वर्षों तक पश्चिम और मध्य एशिया के बीच विशिष्ट सांस्कृतिक संसार निर्मित किया। आज ईरान जिस राजनीतिक, आर्थिक और सैन्य संकट से गुजर रहा है, उसकी जड़ें केवल 1979 की इस्लामी क्रांति या अमेरिका-इसराइल के साथ उसके वर्तमान संघर्ष में नहीं हैं। उसके पीछे प्राचीन साम्राज्यों की स्मृति, फारसी भाषा और साहित्य की निरंतरता, इस्लामी और शिया परंपरा, औपनिवेशिक हस्तक्षेप का अनुभव, आधुनिक राष्ट्रवाद और पश्चिमी प्रभुत्व के प्रति गहरे अविश्वास की लंबी ऐतिहासिक परतें हैं।

प्राचीन ईरान का सबसे प्रसिद्ध राजनीतिक रूप आकेमेनिड साम्राज्य था, जिसकी स्थापना छठी शताब्दी ईसा पूर्व में साइरस महान ने की। डेरियस के समय यह साम्राज्य अत्यंत विस्तृत हो गया। पर्सेपोलिस उसके वैभव और प्रशासनिक क्षमता का प्रतीक बना। इसके बाद सिकंदर के आक्रमण, पार्थियन सत्ता और फिर सासानी साम्राज्य ने ईरानी इतिहास को नई दिशाएं दीं। सासानी काल में जशथुस्त्र धर्म, राजसत्ता और सांस्कृतिक पहचान का गहरा संबंध बना। सातवीं शताब्दी में अरब मुस्लिम विजय के बाद सासानी साम्राज्य समाप्त हुआ, लेकिन ईरानी सभ्यता समाप्त नहीं हुई।

इस बिंदु पर ईरान के इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता सामने आती है। वह बाहरी प्रभावों को आत्मसात करता रहा, लेकिन अपनी सांस्कृतिक पहचान को पूरी तरह विसर्जित नहीं होने देता। इस्लाम के आगमन के बाद अरबी धार्मिक और प्रशासनिक भाषा बनी, पर फारसी ने स्वयं को पुनर्गठित किया और शीर्ष ही इस्लामी दुनिया की सबसे शक्तिशाली साहित्यिक भाषाओं में शामिल हो गई। अबुल कासिम फिरदौसी का शाहनामा इस सांस्कृतिक पुनर्जागरण का महान उदाहरण है। प्राचीन ईरानी मिथकों, राजाओं और वीरावथाओं को फारसी में पुनर्संजित करके उन्होंने इतिहास को संस्कृतिक स्मृति में बदल दिया।

फारसी साहित्य की शक्ति केवल फिरदौसी तक सीमित नहीं है। उमर खय्याम, निजामी, सादी, हाफिज और रूमी ने फारसी साहित्य को विश्व साहित्य की महान परंपरा बनाया। सादी की मानवीय दृष्टि, हाफिज की सूक्ष्म प्रेम और आध्यात्मिकता, तथा रूमी की सूफी चेतना आज भी ईरानी संस्कृतिक जीवन में सक्रिय हैं। फारसी कविता में प्रेम और अध्यात्म के साथ सत्ता की आलोचना, मानवीय स्वतंत्रता और जीवन की क्षणभंगुरता भी दिखाई देती है। इसीलिए ईरान की संस्कृति को केवल धार्मिक रुढ़िवाद के माध्यम से समझना उसके मूल स्वभाव को सीमित कर देना होगा।

फोटो: गौरी कैफ़ेजो



तेहरान के आजादी स्वरायर में इंटरनेशनल नौरोज़ फेस्टिवल के दौरान पारंपरिक संगीत और नृत्य प्रस्तुत करते जातीय समूहों के कलाकार

आधुनिक ईरान की पहचान इसी बहुस्तरीय विरासत से बनती है। नौरोज़ उत्सव का बने रहना उदाहरण है कि राजनीतिक सत्ता और धार्मिक व्यवस्था के ऊपर भी सांस्कृतिक स्मृति की अपनी शक्ति होती है।

उन्नीसवीं शताब्दी का ईरान रूसी और ब्रिटिश प्रभाव से दबाव में था। विदेशी हस्तक्षेप और राजसत्ता की निरंकुशता के विरुद्ध 1905-11 की संवैधानिक क्रांति हुई। यह आधुनिक ईरानी लोकतांत्रिक चेतना का महत्वपूर्ण पड़ाव था। बाद में रजा शाह पहलवी ने केन्द्रीकृत आधुनिक राष्ट्र-राज्य का निर्माण किया।

उनके पुत्र मोहम्मद रजा शाह के समय ईरान अमेरिका के और निकट आया। 1953 में प्रधानमंत्री मोहम्मद मोसदेक की सरकार का तख्तापलट आधुनिक ईरानी राजनीतिक स्मृति की निर्णायक घटना है। मोसदेक ने तेल उद्योग के राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाई थी। उनके हटाए जाने और शाह की सत्ता के सुदृढ़ होने ने ईरानी समाज के एक हिस्से में यह धारणा मजबूत की कि पश्चिमी शक्तियां ईरान की राजनीतिक संप्रभुता में हस्तक्षेप करती हैं। यही स्मृति आगे चलकर अमेरिकी-विरोधी राजनीतिक चेतना की महत्वपूर्ण आधारभूमि बनी।

1979 की इस्लामी क्रांति ने शाह को सत्ता से हटाकर अयातुल्ला रुहोल्लाह खुमेनी के नेतृत्व में इस्लामी गणराज्य स्थापित किया। क्रांति के बाद धार्मिक नेतृत्व ने सत्ता-संरचना पर निर्णायक नियंत्रण स्थापित किया। निर्वाचित राष्ट्रपति और

संसद के साथ सर्वोच्च नेता, गार्जियन काउंसिल और अन्य धार्मिक संस्थाएं ऐसी व्यवस्था बनाती हैं जिसमें चुनाव होते हैं, लेकिन राजनीतिक सत्ता की सीमाएं भी पूर्वनिर्धारित हैं।

ईरानी समाज और राज्य के बीच यही तनाव पिछले दशकों की राजनीति का प्रमुख प्रश्न रहा है। विशेषतः महिलाएं और युवा पीढ़ी आधुनिक शिक्षा, इंटरनेट और वैश्विक संस्कृति से प्रभावित हैं। 2022 में महसा अमीनी की हिरासत में मृत्यु के बाद उभरा ‘वुमन, लाइफ, फ्रीडम’ आंदोलन इसका व्यापक रूप था। उसके भीतर स्त्री की स्वायत्तता, व्यक्तिगत स्वतंत्रता और राज्य के दमन के विरुद्ध व्यापक असहमति थी।

ईरान की आधुनिक साहित्यिक और कलात्मक दुनिया ने भी इन अंतर्विरोधों को अभिव्यक्ति दी है। सादेक हेदायत के साहित्य में आधुनिक मनुष्य का अकेलापन और अस्तित्वगत संकट दिखाई देता है। फोरोग फ़रूख़ज़ाद ने कविता में स्त्री-अनुभव और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की नई भाषा निर्मित की। आधुनिक ईरानी साहित्य और सिनेमा ने राजनीतिक संसरंशिप के बीच भी समाज की गहरी बेचैनी को व्यक्त किया है। अन्बास कियारोस्तामी, असगर फरहादी और जाफर पनाही जैसे फिल्मकारों ने सामान्य जीवन की छोटी घटनाओं में सामाजिक और राजनीतिक तनावों को विश्व सिनेमा तक पहुंचाया।

ईरान की विदेश नीति को समझने के लिए उसके अमेरिका और इसराइल के साथ संबंधों को देखना आवश्यक है। 1979 के बाद अमेरिका और ईरान के संबंध शत्रुतापूर्ण

हो गए। आर्थिक प्रतिबंध, परमाणु कार्यक्रम और क्षेत्रीय राजनीति ने इस टकराव को लगातार गहरा किया। 2015 के परमाणु समझौते ने कुछ समय के लिए समाधान की संभावना पैदा की, लेकिन 2018 में अमेरिका के समझौते से बाहर निकलने के बाद संकट फिर बढ़ गया।

इजसराइल के साथ ईरान का संघर्ष इससे भी अधिक जटिल है। ईरान इजसराइल को मान्यता नहीं देता और फिलिस्तीनी प्रश्न को अपनी विदेश नीति में केन्द्रीय स्थान देता है। दूसरी ओर इसराइल ईरान के परमाणु कार्यक्रम और उसके क्षेत्रीय प्रभाव को अपनी सुरक्षा के लिए गंभीर चुनौती मानता है। वर्षों तक दोनों देशों का संघर्ष विभिन्न माध्यमों से चलता रहा। गाजा युद्ध के बाद यह संघर्ष और तीखा हुआ और 2024 में दोनों देशों के बीच प्रत्यक्ष मिसाइल और ड्रोन हमलों ने स्पष्ट कर दिया कि छाया युद्ध किसी भी समय खुले युद्ध में बदल सकता है।

लेकिन 2026 ने इसे नए स्तर पर पहुंचा दिया। 28 फरवरी 2026 को अमेरिका और इसराइल ने ईरान पर व्यापक सैन्य हमले शुरू किए। परमाणु और सैन्य प्रतिष्ठानों के साथ ईरान के राजनीतिक नेतृत्व को भी निशाना बनाया गया। इस हमले में सर्वोच्च नेता अली खामेनेई की मृत्यु हुई। इसके बाद ईरान ने इसराइल और क्षेत्र में अमेरिकी सैन्य ठिकानों पर मिसाइल और ड्रोन हमले किए। जून में

लेकिन 2026 ने इसे नए स्तर पर पहुंचा दिया। 28 फरवरी 2026 को अमेरिका और इसराइल ने ईरान पर व्यापक सैन्य हमले शुरू किए। परमाणु और सैन्य प्रतिष्ठानों के साथ ईरान के राजनीतिक नेतृत्व को भी निशाना बनाया गया। इस हमले में सर्वोच्च नेता अली खामेनेई की मृत्यु हुई। इसके बाद ईरान ने इसराइल और क्षेत्र में अमेरिकी सैन्य ठिकानों पर मिसाइल और ड्रोन हमले किए। जून में

ईरान का भविष्य इससे जुड़ा है कि उसकी सभ्यतागत आत्मचेतना आधुनिक नागरिक स्वतंत्रता, आर्थिक स्थिरता और वित्प के साथ सामान्य संबंधों के लिए कितनी जगह बनाती है और बाहरी शक्तियां उसके विरुद्ध सैन्य दबाव की जगह कितनी दूर तक कूटनीति को स्वीकार करती हैं



कानों-कान चली आई है यह विरासत

तमिलनाडु के इप्पीमाला मक्कल समुदाय की महिलाओं का कान के अपने परंपरागत आभूषण चूदू के साथ खास रिश्ता है

देवकी बी. नायर

देवी अपने खाली कान की लौ छूती हैं, जो सालों तक चूदू पहनने की वजह से काफी फैल गई है। वह बताती हैं, “मेरी अम्मा और उतम्मा (नानी) ने मुझे सिखाया था कि कान को कैसे फैलाएं।” चूदू जैसा बड़ा आभूषण पहनने के लिए कान की लौ को फैलाना जरूरी होता है

सत्तर साल से ऊपर की देवी नीलगिरि के देवाला गांव में अपने घर के बरामदे में बैठी हैं। कान की लौ पर उंगलियां फेरते हुए वह कहती हैं, “हम कांटों से कान छेदा करते थे और फिर नींबू के पेड़ की छोटी-छोटी टहनियां लगाकर धीरे-धीरे उन्हें फैलाया जाता था।” मुस्कराते हुए वह आगे बताती हैं, “दर्द तो होता था, पर यह बड़े होने का और एक औरत बनने की खुशी का भी हिस्सा होता था।”

चूदू कान का आभूषण है जिसे इप्पीमाला मक्कल समुदाय की महिलाएं पहनती हैं। पहले विवाहिताएं इसे नियमित रूप से पहनती थीं। कोडिमा को अपनी मां और नानी के चूदू पहनने की याद है। तब वह महज

10 साल की थीं और कहती थीं, “मैं भी इसे पहनना चाहती हूं!” 65 साल बाद भी जब वह चूदू देखती हैं, तो खुशी से भर जाती हैं।

चूदू बनाने में कोतुतेन मयानम यानी (मेलिपोनिनी प्रजाति की) डंक रहित मधुमक्खियों का मोम इस्तेमाल होता है। इसे तेन्कूडु यानी मधुमक्खियों के छत्तों से इस तरह इकट्ठा करते हैं कि मधुमक्खियों की बस्ती को कोई नुकसान न पहुंचे। तेक्कुंपाड़ी बस्ती में अपने घर में बैठी कोडिमा कहती हैं, “मेरी मां ने मुझे कान के ये आभूषण बनाना और इनके लिए जरूरी चीजें कहाँ मिलेंगी, यह सिखाया।” युवावस्था में वह अपनी सहेलियों के लिए भी चूदू बनाया करती थीं। “मेरे बच्चे काडु (जंगल) से मयानम (मधुमक्खी का मोम) ला दिया करते थे। हम जिन चीजों का इस्तेमाल करते हैं, उनमें से कई हमारे आसपास की जमीन से ही मिल जाती हैं।”

इप्पीमाला मक्कल समुदाय पड़ोसी राज्य केरला के वायनाड क्षेत्र से संबंधित है। कई पीढ़ियों पहले पनिया समुदाय के कई परिवार नीलगिरि आए गए थे, जहां उन्होंने धान के खेतों और चाय बागानों में खेतिहर



बुजुर्ग पनिया महिलाओं के लिए चूदू उनकी विरासत का हिस्सा है, भले ही अब वे इसे पहनती न हों। (इनसेट) तैयार की गई केवड़े की पत्ती के आधार पर लगाए जाते लाल बीज

उन फैली हुई कान की लवों में पहनने के लिए तैयार किया जाता है। कोडिमा के मुताबिक “जैसे-जैसे कान का छेद बड़ा होता जाता है, चूदू का आकार भी बढ़ाते जाते हैं।”

चूदू बनाने के लिए जरूरी सामग्री नीलगिरि के जंगलों में ही मिलती है, पर अब इनकी उपलब्धता तेजी से कम हुई है। वेरमांगा बस्ती की कल्याणी ने बताया, “हमारे पास चूदूमणि की एक बल्ली (लता) होती थी, मगर पास में किसी ने घर बनाया, तो उसे काट दिया।” अब ज्यादातर महिलाएं मंदिर के मेलों में दुकानदारों से या घूम-घूमकर सामान बेचने वाले व्यापारियों से ये बीज खरीदती हैं।

कोट्टवयल बस्ती की देवी कहती हैं, “हमें ये बीज हमेशा आसपास नहीं मिलते थे। मेरे पति काम के सिलसिले में जब केरला जाते, तो वह वहां से चूदूमणि के बीज ले आते थे।” कोडिमा इन्हें जिस दुकानदार से खरीदती थीं, उसकी मृत्यु हो चुकी है। महिलाओं ने बताया कि मधुमक्खी के छत्ते से मोम जुटाना भी मुश्किल हो रहा है, क्योंकि डंक रहित मधुमक्खियों के छत्ते पहले की तुलना में काफी कम बचे हैं। केवड़े के पेड़-पौधे जिन नदी किनारों पर कभी बहुतायत में उगते थे, वहां खुदाई करने वाली मशीनों ने नदी का पाट चौड़ा करने के लिए सफाई कर दी है। इसी तरह वयल यानी दलदली जमीनों पर अब चाय, कॉफी और केले की खेती होने लगी है। कॉजिकोल्ली बस्ती की माथी ने पारी को बताया, “केवड़े की पत्तियां तलाशने में हमें अब करीब आधा दिन लगता है।”

पास के मुदुमलाई जंगलों को 2008 में टाइगर रिजर्व घोषित कर दिया गया था। इसके बाद वहां के कई आदिवासी समुदाय बाहर कर दिए गए और उनके लिए जंगल बंद हो गए।

इप्पीमाला की महिलाओं ने बदलावों के साथ अपने प्रिय चूदू को भी नए ढंग से अपनाया है। कल्याणी अब सफेद प्लास्टिक की पट्टियां इस्तेमाल करती हैं। वह कहती हैं, “यह पहले जैसा तो नहीं है, पर मैं इसे पहनना चाहती थी। प्लास्टिक वाला देखने में कुछ-कुछ वैसा ही होता है, लेकिन पहनने में अलग लगता है।”

बुजुर्ग महिलाएं आज भी धार्मिक रीतियों के लिए चूदू बनाती हैं, मगर कई युवा महिलाओं ने इसे खुद कभी नहीं पहना। उनका कहना है कि इसे पहनकर उन्हें अजीब-सा लगता है। इसलिए वे कम्मलु पहनती हैं, यानी कान के ऐसे झुमके जिनके पीछे हुक या बटन लगे होते हैं। कोल्लिकोल्ली बस्ती की करुणी अपने आसपास इशारा करते हुए कहती हैं, “महिलाओं के चूदू की जगह कम्मालु (झुमके) पहनने से तेय्यम (देवताओं) को कोई फर्क नहीं पड़ता, तो हमें क्या दिक्कत है?”

अंबलपाड़ी बस्ती की 30 साल की इप्पीमाला मक्कल महिला तंगमणि बताती हैं, “पुराने समय में चूदू पहने महिलाओं का समूह शहर जाया करता था। अब अगर मैं अकेली इसे पहनकर जाऊंगी, तो लोग मुझे घूरेंगे।”

कुछ मौकों पर चूदू को उतारकर रख दिया जाता है, जैसे किसी की मृत्यु के बाद शोक में और बुढ़ापे में भी। करुणी कहती हैं, “मेरे उराले (पति) की मृत्यु के बाद मैंने चूदू पहनना बंद कर दिया।” लेकिन पहनना बंद कर देने के बावजूद इसे संभालकर रखा जाता है। इसे पोड़ए में रखा जाता है, यानी बांस की बनी वह टोकरी जिसमें पूर्वजों की यादों से जुड़ी चीजें रखी जाती हैं। यह टोकरी घर के देवपेरा में रखी जाती है, जो घर में पूर्वजों के लिए बना खास स्थान होता है।

कई महिलाओं के लिए वह चूदू, जिसे उन्होंने खुद बनाया था या अपनी अम्मा या उतम्मा से पाया था, आज भी परिवार की विरासत है, भले ही अब उसका इस्तेमाल न होता हो। माथी कहती हैं, “भले ही हम चूदू न पहनें, हमारी पहचान खत्म नहीं होगी। हम हमेशा पनिया ही रहेंगे।”

देवी और कोडिमा समेत कई बुजुर्ग महिलाओं के मुताबिक, चूदू पहनने के लिए फैलाए गए उनके कान अब दूसरे आभूषण नहीं संभाल पाते। कोडिमा ने बताया, “लोगों ने मुझसे कहा कि कान के छेद को सिलवा लो और छोटा करवा लो, लेकिन मुझे तो सिर्फ अपना चूदू पहनना पसंद है।” ■

संभाव: ruralindiaonline.org



चूदू में मोतियों की तरह इस्तेमाल किए जाने वाले लाल रंग के चिरमै या गुंजा के बीज। इन्हें तोड़कर सुखाया जाता है

कई महिलाओं के लिए वह चूदू, जिसे उन्होंने खुद बनाया था या अपनी अम्मा या उतम्मा से पाया था, आज भी परिवार की विरासत है, भले ही अब उसका इस्तेमाल न होता हो। कई बुजुर्ग महिलाओं के मुताबिक, चूदू पहनने के लिए फैलाए गए उनके कान अब दूसरे आभूषण नहीं संभाल पाते लेकिन उन्हें अभी भी इसे पहनना पसंद है

नेहरू सेंटर ऑडिटोरियम

वेस्टर्न एक्सप्रेसवे पर मुंबई के हृदयस्थल में, बीकेसी से सटे, एयरपोर्ट के पास



इन सबके लिए सर्वोत्तम:

- कॉन्फ़रेंस/एचआर मीटिंग, सेमिनार या ट्रेनिंग सेंटर
- व्याख्यान
- बुक लॉन्च/ बुक रीडिंग
- पैनल डिस्कशन
- साहित्यिक/सांस्कृतिक कार्यक्रम

ऑडिटोरियम उपलब्ध है

-पूरा दिन सुबह 10 बजे से शाम 8 बजे
-आधा दिन सुबह 10 बजे से दोपहर 2 बजे या शाम 4 बजे से शाम 8 बजे



बुकिंग के लिए कृपया संपर्क करें: +91 22-26470102, 8482925258

या हमें लिखें: contact@nehrucentre.com

नेहरू सेंटर ऑडिटोरियम, दूसरा प्लोर, एजेएल हाउस, 608/1ए, प्लॉट नं. 2, एस. नं. 341, पीएफ ऑफिस के पास, बांद्रा, मुंबई- 400051